पञ्चदशोऽध्यायः

जब हम प्रभु को पा लेते हैं तब वे प्रभु हमारे आतिथेय (host) होते हैं, हम उस प्रभु के अतिथि होते हैं और अब यह उस प्रभु का कार्य हो जाता है कि वह हमारी रक्षा करे, हमारे शत्रुओं को दूर करे। बस, इसी भावना से पञ्चदश अध्याय का प्रारम्भ होता है—

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

त्रिवरूथ शर्म

अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान्नुद जातवेदः।
अधि नो ब्रूहि सुमनाऽअहेडँस्तव स्याम शर्मन्त्रिवरूथऽउद्भौ॥१॥

१. हे **अग्ने**=हमारे सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **जातान्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में उत्पन्न हुए **सपत्नान्**=काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओं को **प्रणुद**=प्रकर्षेण धकेल दीजिए। हमारे जीवन से इन्हें दूर कर दीजिए। आपने इस शरीर की रचना करके मुझे यहाँ अधिष्ठातृदेव के रूप में नियत किया है, परन्तु ये कामादि इसमें अपने क़िले बनाकर इसपर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं, इस प्रकार ये मेरे सपत्न हो जाते हैं। आप इन्हें हमसे दूर भगाने की कृपा कीजिए। २. हे **जातवेदः**=भविष्य में आविर्भूत होनेवाले और इस समय बीजरूप में अंकुरित हो रहे कामादि को भी जाननेवाले प्रभो! आप **अजातान्**=अभी पूर्ण रूप से विकसित न हुए इन कामादि को **प्रतिनुद**=एक-एक करके धकेल दीजिए और इस प्रकार इनके विकास को सम्भव ही न होने दीजिए। ३. **सुमनाः**=हमारे प्रति सदा उत्तम विचारवाले हे प्रभो! सदा जीव का शुभ चाहनेवाले प्रभो! **अहेडन्**=क्रोध न करते हुए आप **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=अधिष्ठातृरूपेण हृदय में स्थित हुए उपदेश दीजिए। ४. उस उपदेश के अनुसार चलते हुए हम **तव**=तेरी **त्रिवरूथे**=इन्द्रिय, मन व बुद्धि तीनों की रक्षक-(वरूथ=cover)-भूत अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक त्रिविध सुखों के हेतुभूत **उद्भौ**=(उत्कृष्टानि वस्तूनि भवन्ति यस्मिन्—द०) उत्तम पदार्थों से युक्त आपकी **शर्मन्**=शरण में **स्याम**=सदा सुख से रहें। ५. आपके सम्पर्क में रहते हुए सदा आगे बढ़नेवाले 'अग्नि' बनकर हम भी परम स्थान में स्थित हों और आपके अनुरूप बनकर प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'परमेष्ठी' बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे दोष दूर हों, हम प्रभु के सन्देश को सुनें और प्रभु की उस शरण में सदा निवास करें, जो 'काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों का निवारण करके (त्रिवरूथ=निवारण) 'प्रेम, दया व दान' आदि उत्कृष्ट भावनाओं को हममें जन्म देती है और इसी कारण 'उद्भि' कहलाती है (भवतेर्डिः)।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वयं स्याम

सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयꣳस्याम प्रणुदा नः सपत्नान्॥२॥

१. ये कामादि हमारी इच्छा से तो हममें उत्पन्न नहीं होते। ये तो हमारे न चाहते हुए भी हममें आ घुसते हैं। इसी से इन्हें 'विश्वानि' (विशन्ति) कहा गया है, अतः **सहसा**=बलपूर्वक **जातान्**=हममें उत्पन्न हो गये इन **नः**=हमारे **सपत्नान्**='काम, क्रोध व लोभ' आदि शत्रुओं को हमसे **प्रणुद**=प्रकर्षेण दूर धकेल दीजिए। २. हे **जातवेदः**=उत्पन्न हो रहे हमारे इन शत्रुओं को जाननेवाले प्रभो! **अजातान्**=पूर्णरूप से प्रादुर्भूत न हुए-हुए, बीजरूप से अवस्थित इन कामादि को **प्रतिनुदस्व**=एक-एक करके दूर प्रेरित कर दीजिए। ३. **सुमनस्यमानः**=हमारे लिए सदा शुभ चाहनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=अधिष्ठातृरूपेण हृदयस्थ आप उपदेश दीजिए। ४. **वयं स्याम्**=आपके उपदेशानुसार चलते हुए हम सदा बने रहें, कामादि शत्रुओं से आक्रान्त होकर समाप्त न हो जाएँ, अतः ५. आप **नः**=हमारे **सपत्नान्**=शत्रुओं को—चाहे वे 'जात' (fully developed) हैं, चाहे 'अजात' **प्रणुद**=हमसे दूर कीजिए। ६. इन शत्रुओं को दूर करके निरन्तर आगे बढ़नेवाले हम भी परम स्थान में स्थित होकर आपकी भाँति 'परमेष्ठी' नामवाले होंगे?

भावार्थ—कामादि अत्यन्त प्रबल हैं। हमारे न चाहते हुए भी ये हममें आ घुसते हैं। हम सबका भला चाहनेवाले प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे इन शत्रुओं को दूर प्रेरित करें, जिससे हम इस शरीर में सदा बने रहें। इन शत्रुओं से धकेले जाकर जीवन से दूर न कर दिये जाएँ, मार न दिये जाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दम्पती

षोडशी स्तोमऽओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिꣳश स्तोमो वर्चो द्रविणम्।
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभि गृणन्तु देवाः।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व॥३॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार शत्रुओं को दूर करके मनुष्य अपने जीवन में 'प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योतिः, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम (नम्रता)' इन सोलह कलाओं को विकसित करके **षोडशी**=सोलह कलाओंवाला बने। यह सोलह कलाओंवाला बनना ही **स्तोमः**=उसका स्तवन है। इस प्रकार वह प्रभु की स्तुति कर रहा होता है। इस क्रियात्मक प्रभु-स्तुति से **ओजः द्रविणम्**=ओजरूप धन प्राप्त होता है, यह स्तोता ओजस्वी बनता है। २. **चतुः चत्वारिंशः**=चवालीस संख्या को पूर्ण करनेवाला ब्रह्मचर्य का आचरण ही इसका **स्तोमः**=स्तुतिसमूह हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास से 'चारों अङ्गों में चवालीस वर्षों तक होनेवाली सम्पूर्णता का सम्पादन' सच्चा स्तवन है। इससे **वर्चः द्रविणम्**=अध्ययनरूप सम्पत्ति प्राप्त होती है। ३. एवं, पति ने ओजस्वी व वर्चस्वी बनना है। इस प्रकार बनना ही उसका सच्चा प्रभु-स्तवन है। ४. अब पत्नी के लिए कहते हैं कि **अग्नेः पुरीषं असि**=तू इस प्रगतिशील पति की पूर्तिकरी है (पॄ=पूरण), पति के कार्य का पूरण करनेवाली है। पति-पत्नी से मिलकर ही घर की व्यवस्था पूर्ण होती है। पति कमाता है तो पत्नी उसका सद्व्यय करती हुई उस धन की रक्षा करती है। एवं, गृहस्थ में पत्नी पति के साथ मिलाकर क़दम रखती है। ५. **अप्सः नाम**=(प्सा भक्षणे) (न विद्यते परपदार्थभक्षणं यस्य—द०) तू कभी पराये पदार्थ का सेवन करने का विचार नहीं करती, इसी बात में तेरी प्रसिद्धि है। 'आत्मना भुजमश्नुताम्' इस वेदसन्देश का

ध्यान करते हुए तू स्वयं पुरुषार्थ से भोजन को जुटाना ही ठीक समझती है। ६. **तां त्वा**=उस तुझे **विश्वेदेवाः**=सब समझदार लोग **अभिगृणन्तु**=सामने व पीछे प्रशंसित ही करते हैं। तेरा व्यवहार तेरी प्रशंसा का कारण बनता है। ७. **स्तोमपृष्ठा**=(वीरजननम्=स्तोमः पृष्ठे यस्याः)=वीर सन्तानों को जन्म देने का तेरा दायित्व है। तूने 'वीरसूः' ही बनना है। ८. **घृतवती**=शरीर से मलों के क्षरणवाली और मल निराकरण से पूर्ण स्वास्थ्य का सम्पादन करनेवाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तिवाली तू **इह**=इस घर में **सीद**=विराज। ९. इस प्रकार इस घर में निवास करती हुई तू **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावत् द्रविणा**=उत्तम सन्तानरूप धनों को **यजस्व**=सङ्गत करानेवाली हो, अर्थात् तेरे साथ इस गृहस्थ की मंज़िल को पूर्ण करते हुए हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—पति ओजस्वी व वर्चस्वी हो। पत्नी पति की पूरिका, किसी के आगे हाथ न फैलानेवाली तथा वीर सन्तानों को जन्म देने के व्रतवाली, स्वस्थ्य व ज्ञान-दीप्त हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिगाकृतिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

इस लोक से उस लोक तक

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्दऽआच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप् छन्दः काव्यं छन्दोऽअङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः ॥४॥

१. प्रभु 'परमेष्ठी'=परम स्थान में स्थित होने के निश्चयवाले से कहते हैं कि तेरी **एवः छन्दः**=ज्ञान की कामना हो। 'एव' की मूल भावना गति है—'गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च' इस आधार से गति का अर्थ ज्ञान हो जाता है। २. ज्ञान प्राप्त करके तेरी **वरिवः छन्दः**=(वरिवस्या तु शुश्रूषा) सेवा की कामना हो। ज्ञान प्राप्त करके तू अधिक-से-अधिक लोकहित करनेवाला हो। ३. **शम्भूः छन्दः**=शान्ति के उत्पादन की तेरी इच्छा हो, सबको सुखी करने की तेरी भावना हो। ४. **परिभूः छन्दः**=(सर्वतः पुरुषार्थी—द०) शारीरिक, मानस, बौद्धिक व सामाजिक विकास के लिए तेरी विविध पुरुषार्थों की कामना हो। ५. **आच्छत् छन्दः**=इस व्यापक पुरुषार्थ के द्वारा (दोषापवारणम्—द०) दोषों के दूर करने की तेरी कामना हो। निरन्तर पुरुषार्थ में लगा व्यक्ति दोषों से बचा रहता है। ६. **मनः छन्दः**= दोषापवारण द्वारा निर्मल मन से तू उत्तम मनन का संकल्प कर, तेरा विचार उत्तम हो। ७. **व्यचः छन्दः**=(शुभगुणव्याप्तिः—द०) इस मन को तू शुभ गुणों से व्याप्त करने की इच्छा कर अथवा विस्तृत मनवाला होने की इच्छा कर। ८. **सिन्धुः छन्दः**=(नदीव चलनम्—द०) नदी की भाँति स्वाभाविक कर्म की वृत्तिवाला बनने की इच्छा कर। ९. **समुद्रः छन्दः**=समुद्र के समान गम्भीर बनने की कामना कर अथवा सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न कर (स+मुद्र) १०. **सरिरं छन्दः** =बहनेवाले जल की भाँति तू शान्त होने की कामना कर। ११. उल्लिखित गुणों को धारण करके **ककुप् छन्दः**=शिखर तेरी इच्छा हो। तू शिखर पर पहुँचने का संकल्प कर। १२. **त्रिककुप् छन्दः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों दृष्टिकोणों से शिखर पर पहुँचने की तेरी कामना हो अथवा धन, बल व ज्ञान तीनों में तू अग्रणी बनने की भावना रख। 'प्रेम, दया व दान' ये तीनों तुझे उच्च स्थानों में स्थित करें। १३. **काव्यं छन्दः**=प्रभु का अजरामर वेदरूपी काव्य तेरी कामना का विषय बने। इसके द्वारा तू सब सत्य विद्याओं

का जाननेवाला बन, कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझ। १४. कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझकर **अङ्कुपं छन्दः**=कुटिलता से अपने को आक्रान्त न होने देने की कामना कर (अङ्कोःपाति)। 'अकुटिलता व आर्जव ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है' इस बात को न भूल। १५. अकुटिल व सरल बनकर तू **अक्षरपंक्तिः छन्दः**=उस अविनाशी परमात्मा में अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंवाला हो (अक्षरे पंक्तिः यस्य)। तेरी कामना यही हो कि सब ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक वस्तु में प्रभु महिमा को देखनेवाली हों। १६. **पदपंक्तिः छन्दः**=प्रभु का स्मरण करते हुए (पदे पंक्तिर्यस्य) तू सदा उत्तम मार्ग पर चलनेवाला बन। तेरी कामना यही हो कि मेरी कर्मेन्द्रियाँ धर्ममार्ग से रेखामात्र भी विचलित न हों। १७. इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हुए तथा कर्मेन्द्रियों से धर्ममार्ग पर चलते हुए तू यह कामना कर कि **विष्टारपंक्तिः छन्दः** =(विष्टारे पंक्तिः यस्य) सब शक्तियों के विस्तार में तेरे पाँचों प्राण विनियुक्त हों। तेरी सब शक्ति विस्तार व वृद्धि के लिए हो। १८. इस शक्तियों के निरन्तर विस्तार से **क्षुरोभ्रजः छन्दः**=(असौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्दः—श० ८। ५। २। ४) आदित्य बनने की तेरी कामना हो। आदित्य 'क्षुर' है। यह सब अन्धकार का छेदन—विलेखन करता है, यह भ्रज है 'भ्राजते' दीप्त होता है। तू भी अज्ञानान्धकार का विलेखन करके ज्ञान-दीप्ति से भ्राजमान होने के लिए प्रबल कामना व यत्नवाला हो।

१९. प्रस्तुत मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसका प्रारम्भ 'एवः' से है, जिसका अर्थ ज्ञान है—ज्ञान-प्राप्ति के लिए गतिशीलता है और मन्त्र की समाप्ति पर सूर्य की भाँति अन्धकार का विलेखन करके ज्ञान से दीप्त होने का उपदेश है। संक्षेप में ज्ञान से प्रारम्भ है और ज्ञान पर ही अन्त है। वस्तुतः मनुष्य को मनुष्य बनानेवाला यह ज्ञान ही है। ज्ञान ही उसे ऊँचा उठाता हुआ 'परमेष्ठी' बनाएगा।

भावार्थ—इस जीवन में मेरी कामना मन्त्र-वर्णित १८ शब्दों के अनुसार हो। 'ज्ञान, सेवा, शान्ति, पुरुषार्थ, दोषापावरण, मनन, आत्म-विस्तार एवं सद्गुण ग्रहण, सहज क्रियाएँ, गम्भीरता, शान्ति व माधुर्य, शिखर पर पहुँचना, स्वास्थ्य नैर्मल्य, प्रभु के काव्य को अपनाना, अकुटिलता, सदा प्रभु-स्मरण, न्यायमार्ग-प्रवृत्ति, शक्ति-विस्तार, अन्धकार विलेखन व ज्ञान-दीप्ति' ये मेरी कामना के विषय हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृदभिकृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

आच्छत्+अङ्काङ्कम् (गोदों की गोद)

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरञ्छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सप्तस्तुप् छन्दोऽनुष्टुप् छन्दऽएवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्द्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽअङ्काङ्कं छन्दः ॥५॥

१. **आच्छत् छन्दः**=(समन्तात् पापनिवारकं कर्म—द०) अच्छे प्रकार पापों की निवृत्ति करनेवाले कर्म की तुम्हारी कामना हो। अपने को पाप से बचाने के लिए हम सदा कर्मों में लगे रहें। २. **प्रच्छत् छन्दः**=(प्रयत्नेन दुष्टस्वभावदूरीकरणार्थं कर्म—द०) प्रयत्न से दुष्ट स्वभाव को दूर करनेवाले कर्म की तुम्हारी कामना हो। जहाँ हम पापकर्मों से अपने को बचाएँ, वहाँ अपने जीवन को इस प्रकार चलाने का ध्यान करें कि हमारा स्वभाव दुष्ट न हो जाए। ३. **संयत् छन्दः**=संयम की हमारी कामना हो। हम मन को पवित्र रखकर संयमी

बनने का प्रयत्न करें। ४. **वियत् छन्दः**=विविध यत्नों की हमारी इच्छा हो। हम अपने जीवन को सदा अच्छा बनाने का यत्न करें। ५. **बृहत् छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) बहुत वृद्धि की हमारी कामना बनी रहे। हमारे सब यत्न वृद्धि के लिए हों। ६. **रथन्तरं छन्दः**=हमें यह ध्यान रहे कि इस शरीररूप रथ से हमने संसार को तैरना है। इस प्रकार जीवन-यात्रा को पूर्ण करने की हमारी प्रबल कामना हो। ७. **निकायः छन्दः**=(निकाय=The supreme being) जीवन-यात्रा को पूर्ण करके उस पुरुषोत्तम को, जो वास्तव में हमारा घर है, प्राप्त करने की हमारी कामना हो। निकाय शब्द का अर्थ गुणों का समूह भी है। हम अपने जीवन में अधिक-से-अधिक गुणों का संग्रह करने की कामनावाले हों। ८. **विवधः छन्दः**=(विशिष्टो वधः) अन्तःशत्रुओं का नाश ही 'विशिष्ट' वध है, उसकी हमें इच्छा करनी चाहिए। ९. **गिरः छन्दः**=इनका वध कर सकने के लिए वेदवाणियों की हमारी कामना हो। इन ज्ञानवाणियों को अपना व्यसन बनाकर ही हम काम-क्रोधादि से उत्पन्न व्यसनों का वध कर पाएँगे। १०. **भ्रजः छन्दः**=ज्ञान को अपना व्यसन बनाकर हम ज्ञान की दीप्ति से चमकने की कामना करें। (भ्राजृ दीप्तौ) ११. **संस्तुप् छन्दः**=इस ज्ञान-दीप्ति को प्राप्त करके अपनी देदीप्यमान ज्ञानाग्नि में हम कामादि को भस्म करने की कामनावाले बनें। कामादि को **सम्**=सम्यक्, पूर्णतया **स्तुप्**=रोक देने की इच्छा करें। इसी उद्देश्य से १२. **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की हमारी कामना हो। इस प्रभु-स्मरण से हमें १३. **एवः छन्दः**=ज्ञान प्राप्त होगा। इस अन्तःज्ञानस्रोत को प्रवाहित करने की कामनावाले हम बनें। १४. **वरिवः छन्दः** =ज्ञान को प्राप्त करने के लिए 'गुरु-शुश्रूषा' की हमारी कामना हो। **'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सवेया'** यह ज्ञान प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा से प्राप्त होता है। १५. वस्तुतः मातृ-सेवा, पितृ-सेवा, आचार्य-सेवा व लोक-सेवा के लिए ही **वयः छन्दः**=जीवन-तन्तु का विस्तार हमारी इच्छा का विषय बने (वेञ् तन्तुसन्ताने)। १६. इस जीवन विस्तार के लिए **वयस्कृत् छन्दः**=हम उन्हीं अन्नों व भोज्यद्रव्यों की कामना करें जो जीवन-तन्तु को दीर्घ करनेवाले हों। १७. इस दीर्घ जीवन में **विष्पर्द्धाः छन्दः**=हम विशिष्ट स्पर्धा की कामना करें। गुणों के दृष्टिकोण से औरों से आगे बढ़ने का ध्यान करें। स्पर्धापूर्वक निरन्तर आगे बढ़ते हुए १८. **विशालं छन्दः**=हम अपने को विशाल बनाने की कामनावाले हों। १९. इस विशालता की ओर चलते हुए **छदिः छन्दः** (छद अपवारणे)=विघ्नों को दूर करने की हमारी कामना हो। विघ्न हमें हतोत्साह करनेवाले न हो जाएँ। २०. इन विघ्नों को दूर करते हुए हम ऊपर और ऊपर उठते चलें। वेद के 'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षम्, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहं दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्' इन शब्दों के अनुसार हम पृथिवी से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुँचनेवाले हों। **दूरोहणं छन्दः**=(दुःखेन रोद्धुं योग्यम्) जहाँ तक पहुँचना सुगम नहीं, उस आदित्य तक पहुँचने का संकल्प करें। (असौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दः—श० ८। ५। २।६)। २१. **तन्द्रं छन्दः**=हमारा एक ही ध्येय हो **तन्**=शक्तियों का विस्तार तथा **द्र**=विघ्नों का विद्रावण। हम शक्तियों के विस्तार व विघ्न-नाश की प्रबल कामना करें। २२. इस प्रकार निरन्तर उन्नति के लिए प्रयत्नशील होते हुए हम **'अङ्क+अङ्कं छन्दः'**=गोदों की भी गोद—उस सर्वोत्तम गोद में, अर्थात् प्रभु के समीप पहुँचने की इच्छावाले हों। यह गोद ही 'अभयम्'=पूर्ण निर्भयता देनेवाली है।

भावार्थ—हम आच्छत् छन्द से अङ्काङ्क छन्द तक पहुँचनेवाले बनें। पाप-निवारणात्मक कर्मों को करते हुए हम प्रभु की गोद में पहुँचने का ध्यान करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—विद्वांसः। छन्दः—विराडभिकृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्वान्वित्या दिवादिवं जिन्व सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व प्रवया ऽह्नाहर्जिन्वानुया रात्र्या रात्रीं जिन्वोशिजा वसुभ्यो वसूञ्जिन्व प्रकेतेनादित्येभ्यऽआदित्याञ्जिन्व ॥६॥

१. **सत्याय**=सत्य के लिए (उपहिता सती—म० enjoined) आदिष्ट हुआ-हुआ तू **रश्मिना**=ज्ञान-किरणों से तथा मनरूप लगाम द्वारा इन्द्रिय-निरोध से (रश्मिः=किरण, लगाम) **सत्यं जिन्व**=सत्य को प्राप्त कर, सत्य को अपने अन्दर प्रीणित कर। ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र में 'रश्मि' किरण है और कर्मेन्द्रियों के क्षेत्र में यह लगाम है। ज्ञान-किरणों के प्राप्त करने में लगी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ असत्य से बची रहती हैं और सत्य का पोषण करती हैं, इसी प्रकार बुद्धिरूप सारथि से मनरूप लगाम द्वारा निरुद्ध कर्मेन्द्रियाँ असत्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होतीं। २. **धर्मणा**=(धर्मो धारयते प्रजाः) धारणात्मक कर्मों को करने के हेतु से इस मानव शरीर को प्राप्त कराया हुआ तू **प्रेतिना**=(प्रकृष्टा इतिः) प्रकृष्ट गति से, अर्थात् सदा गो-सेवा आदि उत्तम कर्मों में लगे रहने से **धर्मं जिन्व**=अपने अन्दर धर्म को प्रीणित कर। धन कमाने के कार्यों से निपटने पर गो-सेवादि कार्य ही तेरे आमोद-प्रमोद हों। ३. **दिवा**=ज्ञान के लिए सब साधनों को प्राप्त कराया हुआ तू **अन्वित्या**=(अनु+इति) माता-पिता व आचार्य के अनुकूल गति करने के द्वारा, अर्थात् उनकी आज्ञा के अनुसार चलता हुआ तू **दिवं जिन्व**=प्रकाश को प्राप्त कर। तू माता से चरित्र और पिता से आचार (Manners) तथा आचार्य से ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके प्रकाशमय जीवनवाला बन। ४. **अन्तरिक्षेण**=(अन्तरा क्षि) सदा मध्यमार्ग में चलने के हेतु से ही तुझे बुद्धि दी गई है। मध्यमार्ग में चलने के हेतु से इस मानव जीवन को प्राप्त करायां हुआ तू **सन्धिना**=शरीर व मन के बल का अपने में सम्यग् आधान (स्थापन) द्वारा **अन्तरिक्षं जिन्व**=इस मध्यमार्ग को प्राप्त करनेवाला बन। अथवा **सन्धिना**=दोनों अतियों के मेल के द्वारा तू मध्यमार्ग को प्राप्त कर। एक ओर अतियोग है—दूसरी ओर अयोग। दोनों का मध्य यथायोग है। इस यथायोग को तू अपनानेवाला हो। ५. **पृथिव्या**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आदिष्ट हुआ-हुआ तू **प्रतिधिना**=अङ्ग-अङ्ग में—प्रत्येक अङ्ग में शक्ति के आधान द्वारा (प्रति-धानं) **पृथिवीं जिन्व**=शरीर को पूर्ण स्वस्थ बना। ६. शरीर को स्वस्थ बनाकर अध्यात्म उन्नति करके **वृष्ट्या**=धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा को प्राप्त करने के हेतु से इस संसार में भेजा हुआ तू **विष्टम्भेन**=(वि+स्तम्भ्) विशिष्ट रूप से चित्तवृति के स्तम्भन के द्वारा **वृष्टिं जिन्व**=इस आनन्द की वर्षा को प्राप्त करनेवाला बन। ७. **अह्ना**=(अहन्) जीवन के एक भी क्षण को नष्ट न करने के लिए भेजा हुआ तू **प्रवया** (प्रकर्षेण यानं प्रवा, वा गतिगन्धनयोः)=प्रकृष्ट गति के द्वारा **अहः**=अपने आयुष्य के दिनों को **जिन्व**=बड़ा क्रियामय बना। तेरे जीवन के दिन उत्साहपूर्ण प्रतीत हों। ८. **रात्र्या**=(रात्रिः रमयित्री) रात्रि को सचमुच आनन्दप्रद बनाने के लिए प्रेरित हुआ-हुआ तू **अनुया**=एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे इस प्रकार निरन्तर कर्मों में लगने के द्वारा **रात्रीं जिन्व**=रात्रि को आनन्दप्रद बना (to refresh, to animate)। ९. इस प्रकार दिन-रात्रि को ठीक बनाने के बाद **वसुभ्यः**=वसुओं के लिए आदिष्ट हुआ-हुआ तू **उशिजा**=(उशिक्=मेधावी, तथा

वष्टि कामयते) बुद्धिमता से उत्तम कामनाओं के द्वारा **वसून् जिन्व**=सब निवासक तत्त्वों को प्राप्त करनेवाला बन। इन वसुओं ने ही तो तेरे निवास को उत्तम बनाना है। इन वसुओं की अनुकूलता से ही पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है। १०. पूर्ण स्वस्थ बनकर **आदित्येभ्यः**=आदित्यों के लिए प्रेरित हुआ-हुआ तू **प्रकेतेन**=प्रकृष्ट ज्ञान से **आदित्यान् जिन्व**=आदित्यों को प्रीणित करनेवाला बन। आदित्य की भाँति ही तुझे ज्ञान की दीप्ति से चमकना है। यह ज्ञान 'प्रकेत' है 'प्रकर्षेण कं सुखं इष्यतेऽनेन'=इसी से प्रकृष्ट सुख की गति होती है। इसी से उस **क**=अनिर्वचनीय प्रजापति परमात्मा का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें प्रस्तुत मन्त्र में दस आदेश दिये हैं। उन आदेशों के अनुसार हमें सत्य, धर्म, प्रकाश, मध्यमार्ग, शरीर का स्वास्थ्य, आनन्द-वृष्टि की अनुभूति, समय की अव्यर्थता, रात्रि का रमयितृत्व—वासक तत्त्व तथा प्रकेत (=प्रकृष्ट ज्ञान) की साधना करनी है। हम इन आदेशों का पालन करते हैं तो वे ही हमारे स्तोम=प्रभु-स्तवन हो जाते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

रायस्पोष से तेजस् तक २९ में से ११-१६ तक स्तोमभाग

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व संसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥७॥

११. **रायस्पोषेण**=इस संसार में तू रायस्पोष के हेतु से, धन के पोषण के लिए भेजा गया है। इस धन के बिना लोकयात्रा चलना सम्भव नहीं, अतः तू **तन्तुना**=कर्मतन्तु के विस्तार के द्वारा **रायस्पोषं जिन्व**=धन के पोषण को प्राप्त कर। तू पुरुषार्थ से धनार्जन कर। १२. धन के साथ तू **श्रुताय**=शास्त्र-श्रवण व ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी उद्दिष्ट हुआ है, अतः तू **संसर्पेण** =सदा विद्यावृद्धों के समीप जाने से **श्रुतं जिन्व**=अपने शास्त्र-ज्ञान को बढ़ानेवाला बन। 'श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञानी बनो'—इस बात को तू भूलना नहीं। १३. **ओषधीभिः**=इस संसार में तुझे ओषधियों के ही सेवन का आदेश है, अतः **ऐडेन**=उन ओषधियों के गुण-स्तवन के द्वारा (आ-ईड् स्तुतौ=ऋच्), अर्थात् उनके गुणधर्मों के ज्ञान के साथ **ओषधीः जिन्व**=तू ओषधियों को प्राप्त हो। मांसाहार बुद्धि को राजस् बनाकर ज्ञान को विकृत कर देता है। १४. **तनूभिः** =शक्तियों के विस्तार (तन् विस्तारे) के हेतु तुझे यह जन्म मिला है, अतः **उत्तमेन**=(उद्गतं तमो यस्मात्—म०) तमोगुणरहित अन्नादि के सेवन से **तनूः जिन्व**=शक्तियों के विस्तार को प्राप्त हो। १५. **अधीतेन**=अध्ययन के हेतु तुझे यह मानव जीवन मिला है, अतः **वयोधसा**=(वयो दधाति पुष्णाति) आयुष्य के पोषक अन्न के सेवन से **अधीतं जिन्व**=अध्ययन को प्राप्त हो। आयुष्य का स्थापक अन्न तुझे दीर्घजीवी बनाकर दीर्घकाल तक अध्ययन के योग्य बनाएगा। १६. **तेजसा**=तेज के हेतु तुझे यह जीवन मिला है, अतः **अभिजिता**=अन्तरिन्द्रिय मन व बाह्येन्द्रियों के विजय से पूर्ण जितेन्द्रिय होकर **तेजः जिन्व**=तू तेज प्राप्त कर।

भावार्थ—मानव जीवन को प्राप्त करके हम 'धन, ज्ञान (श्रुत) सात्त्विक अन्न, शक्ति-विस्तार, अध्ययन व तेज' को सिद्ध करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रतिपद-अनुपद्-सम्पत्-तेज १७ से २० तक

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥८॥

१७. पति-पत्नी परस्पर कहते हैं कि **प्रतिपत् असि**=तू ज्ञान-सम्पन्न है (प्रतिपत्=बुद्धि) **प्रतिपदे त्वा**=ज्ञान के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। हम परस्पर ज्ञानचर्चाएँ करते हुए एक-दूसरे के ज्ञान को बढ़ानेवाले बन पाएँगे। १८. **अनुपद् असि**=तू अनुकूल चलनेवाली है। **अनुपदे त्वा**=अनुकूलता के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। १९. **सम्पत् असि**=तू लक्ष्मी है। **सम्पदे त्वा**=सम्पत्ति की वृद्धि के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। सप्तपदी में भी 'रायस्पोषाय त्रिपदी भव' इस वाक्य के अनुसार सम्पत्ति वृद्धि के लिए ही तीसरा पग है। यहाँ मन्त्र की समाप्ति इस रूप में है कि २०. **तेजः असि**=तू संयम के द्वारा तेज का पुञ्ज बना है, **तेजसे त्वा**=अपने तेज की स्थिरता के लिए मैं तेरा स्वीकार करता हूँ। इस तेजस्विता ने ही तो पति-पत्नी के जीवन को स्वस्थ बनाकर कल्याण का भावन (उत्पादन) करना है।

भावार्थ—गृहस्थ को स्वर्गतुल्य बनाने के लिए चार बातें आवश्यक है—१. ज्ञान (समझदारी), २. अनुकूलता, ३. कार्यसाधिका सम्पत्ति, ४. तेजस्विता (संयम के द्वारा)।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः॥

इक्कीस से उनतीस तक स्तोमभाग

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जे जिन्व ॥९॥

२१. **त्रिवृत् असि**=तू 'धर्म, अर्थ व काम' तीनों में वर्त्तनेवाला है, तीनों का समानुपात में सेवन करनेवाला है। मस्तिष्क की उन्नति से ज्ञान-वृद्धि द्वारा तू धर्म को अपनाता है, हृदय के नैर्मल्य से मधुर व्यवहारवाला बनकर तू सुपथा अर्थ का अर्जन करता है और शारीरिक उन्नति के द्वारा स्वस्थ बनकर उचित आनन्द (=काम) को प्राप्त करनेवाला होता है। **त्रिवृते त्वा**=इस प्रकार धर्मार्थकाम तीनों में वर्त्तने के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २२. **प्रवृत् असि**=तू सदा उत्कृष्ट कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला है (प्रवर्त्तते), **प्रवृते त्वा**=सदा कार्य-प्रवृत्त होने के लिए, यज्ञादि उत्तम कर्मों में आलस्यशून्यता से सदा प्रवृत्त होने के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २३. **विवृत् असि**=(विशेषेण वर्त्तते भूतेषु) तू विशिष्टरूप से यज्ञादि उत्तम कर्मों से प्राणियों के हित में प्रवृत्त होनेवाला है। **विवृते त्वा**=इस विशिष्ट वर्त्तन के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। पति-पत्नी प्राणिमात्र के प्रीति-(आनन्द)-वर्धक कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए ही परस्पर सङ्गत हों। २४. **सवृत् असि**=(सह वर्त्तते) तू सदा साथ मिलकर चलनेवाली है, **सवृते त्वा**=इस सह वृत्ति के लिए ही मैं तुझे अङ्गीकार करता हूँ। २५. **आक्रमः असि**=(आक्रामति पराभवति अशुभम्) तू उद्योग से सब अशुभों का पराभव करनेवाला है, इस **आक्रमाय त्वा**=अशुभ-पराभवन के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २६. **संक्रमोऽसि**=(संक्रामति) सदा मिलकर क़दम रखनेवाला है, अकेला ही तेज़ी से आगे

बढ़ जानेवाला नहीं, अतः **संक्रमाय त्वा**=इस मिलकर उन्नति के मार्ग में क़दम रखने के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २७. **उत्क्रमः असि**=तू (उत्=out) विषयों से बाहर निकलने के लिए व विघ्नों के पार होने के लिए क़दम रखनेवाला है अतः **उत्क्रमाय त्वा**=इस उत्क्रमवृत्ति के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २८. **उत्क्रान्तिः असि**=(उत्कृष्ट क्रान्तिर्गमनं यस्य) तू सदा उत्कृष्ट क्रान्तिवाला है, अच्छाई के लिए क्रान्ति करनेवाला है। **उत्क्रान्त्यै त्वा**=अपने जीवन में उत्कृष्ट क्रान्ति लाने के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २९. और तू सदा **अधिपतिना**=(अधिकं पाति) अधिष्ठातृरूपेण वर्त्तमान उस सर्वाधिक रक्षक प्रभु के साथ प्रातः-सायं सङ्गत होकर **उर्जा**=बल और प्राणशक्ति के प्रवाह के द्वारा **ऊर्जं जिन्व**=अपने बल व प्राण को प्रीणित क़रनेवाला बन। यह सन्धि-वेला की सन्ध्या तुझे उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से संहित करके फिर-फिर शक्ति से भरनेवाली होगी और अपने को शक्ति से भरने की क्रिया ही तेरे प्रभु-स्तवन की चरम कला होगी, जो तुझे अवश्य प्रभु-प्राप्ति के योग्य बना देगी। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** प्रभु निर्बल को नहीं मिलते, शक्ति-सम्पन्न बनकर उसे पाया जाता है।

भावार्थ—हम 'त्रिवृत्, प्रवृत्, विवृत् व सवृत्' बनकर 'आक्रम, संक्रम व उत्क्रम' हों और एक विशिष्ट (उत्कृष्ट) क्रान्ति के लिए प्रभु-सम्पर्क से अपने में शक्ति का सञ्चार करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—वसवः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीबृहती[ख]। **स्वरः**—धैवतः[क], मध्यमः[ख]॥

राज्ञी (गृहपत्नी)

[क]राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवाऽअधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳश्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरꣳसाम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [ख]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥१०॥

१. हे गृहपत्नि! तू **राज्ञी असि**=(राज्=दीप्तौ, to regulate, to direct) तू अपने व्यवहार से दीप्त होनेवाली है। तेरा जीवन बड़ा व्यवस्थित है, इसी से तो तू सारे घर को व्यवस्थित करनेवाली है। २. **प्राची दिक्**=प्राची तेरी दिशा है। यह दिशा तुझे तेरे मार्ग का संकेत करनेवाली है। (प्र अञ्च) यह तुझे निरन्तर आगे बढ़ने का निर्देश कर रही है। ३. **वसवः ते देवाः**=वसु तेरे आराध्य देव हैं, शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य के लिए तू निवासक तत्त्वों का ध्यान करनेवाली है। वे देव ही तेरे **अधिपतयः**=आधिक्येन रक्षा करनेवाले हैं। ४. **अग्निः**=उन्नतिशील, अग्रेणी यह तेरा पति **हेतीनाम्**=घर पर पड़नेवाले वज्रों (हेतिः=वज्रम्—नि० २।२०) का, कष्टों का **प्रतिधर्ता**=प्रतीकार करनेवाला है। घर पर होनेवाले आक्रमणों से बचाना पति का ही काम है, पति ही रक्षक है (हेतीनाम्=उपद्रवकारिणीनां परायुधानां प्रतिधर्ता निराकर्त्ता—म०)। ५. **त्रिवृत्**=धर्मार्थकाम तीनों का होना और इसी रूप में होनेवाला **स्तोमः**=यह प्रभु-स्तवन **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में **श्रयतु**=सेवन करनेवाला हो। धर्मार्थकाम में सम्यक् वृत्ति शरीर में उत्तम निवास के लिए तेरी सहायता करे। ६. **उक्थम्**=(वक्तुमर्हं) प्रशंसनीय, स्तुति के योग्य **आज्यम्**=घृत अर्थात् प्रशंसनीय गोघृत तुझे **अव्यथायै**=किसी प्रकार की व्यथा—पीड़ा न होने देने के लिए **स्तभ्नातु**=थामे, दृढ़ करे। प्रशस्य गोघृत के

सेवन से तू सब रोग व पीड़ाओं से ऊपर उठ। ७. **रथन्तरं साम**='मुझे शरीररूप रथ से इस भवसागर को तैरना है, जीवन-यात्रा को पूरा करना है' ऐसा निश्चय ही मानो प्रभु-स्तवन है। यह साम=प्रभु-स्तवन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्या**=प्रतिष्ठिति के लिए हो। यह निश्चय मन में स्थिरता से रहे। यह तेरे जीवन का मौलिक सिद्धान्त बन जाए। ८. **देवेषु**=विद्वानों में जो **प्रथमजाः**=प्रथम विभाग में होनेवाले उच्चकोटि के **ऋषयः**=ज्ञानी हैं, वे **दिवो मात्रया**=अपने-अपने ज्ञान के अंश से, **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार करें। ९. **विधर्त्ता**=आपत्तियों का प्रतीकार करनेवाला 'अग्निः', **च अयम् अधिपतिः**=और ये अधिष्ठातृरूपेण रक्षक निवासकदेव **ते त्वा सर्वे**=और वे सारे ऋषि **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **नाकस्य पृष्ठे**=जहाँ दुःख है ही नहीं, उस लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=उत्तम कर्मों से अर्जनीय लोक में **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और यज्ञशील गृहपति को **सादयन्तु**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी ज्ञान-दीप्त, निरन्तर उन्नति-पथ पर बढ़नेवाली हो, धर्मार्थ, काम का समानुपात में सेवन करती हो। घृतादि के प्रयोग से शरीर को स्वस्थ रक्खे। शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का निश्चय करे। पति 'अग्नि'=अग्रेणी हो। ऐसा होने पर घर स्वर्ग बन जाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप् [क], ब्राह्मीबृहती [ख]। **स्वरः**—धैवतः [क], मध्यमः [ख]॥

विराट् (गृहपत्नी)

[क]विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवाऽअधिपतयऽइन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳश्रयतु प्रऽउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [ख]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥११॥

१. हे पत्नि! **विराट् असि**=जीवन को विशिष्टरूप से व्यवस्थित करने के कारण तू विशेषरूप से चमकनेवाली है २. **दक्षिणा दिक्**=दाक्षिण्य का उपदेश देनेवाली यह दक्षिणा तेरी दिशा है। ३. **ते देवाः रुद्राः**=ये रुद्र तेरे देव हैं। प्राणशक्ति को स्थिरता देनेवाले ये रुद्र देव ही **अधिपतयः**=तेरी आधिक्येन रक्षा करनेवाले हैं। ४. **इन्द्रः**=ऐश्वर्य को कमानेवाला, इन्द्रियों का विजेता यह पति **हेतीनां प्रतिधर्ता**=घर पर पड़नेवाले घातक अस्त्रों का प्रतीकार करनेवाला है। ५. पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों का यह **पञ्चदशः स्तोमः**=पन्द्रहवाला समूह **त्वा**=तुझे **पृथिव्यां श्रयतु**=इस शरीर में उत्तमता से आश्रय देनेवाला हो। ६. आज्यादि उत्तम वस्तुओं का **उक्थम्**=प्रशंसनीय **प्रउगम्**=प्रयोग **अव्यथायै स्तभ्नातु**=किसी प्रकार की पीड़ा न होने देने के लिए तुझे थामे, दृढ़ करे। प्रत्येक वस्तु का यथायोग शरीर को बिल्कुल ठीक-ठाक रखता है। ७. **बृहत्साम**=निरन्तर वृद्धि की भावनारूप प्रभु-स्तवन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्यै**=दृढ़ स्थिति के लिए हो, अर्थात् तू हृदय में 'वृद्धि' का ही संकल्प धारण कर। इस संकल्प को ही तू अपना प्रभु-स्तवन समझ। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि में होनेवाले तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी **दिवो मात्रया** =ज्ञान के उस अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=तेरे जीवन को प्रसिद्ध करें। तेरा जीवन मस्तिष्क में ज्ञान व हृदय में विशालता की कीर्तिवाला हो। ९. **विधर्त्ता**=आपत्तियों

का प्रतीकार करनेवाला तेरा पति 'इन्द्र', **च अयं अधिपतिः**=और ये अधिष्ठातृरूपेण रक्षक प्राण **ते च सर्वे**=और ज्ञान देनेवाले वे सारे ऋषि **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और इस घर के यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें, अर्थात् तुम्हारे गृहस्थ को दुःखरहित प्रकाशमय स्वर्ग-सा बना दें।

भावार्थ—पत्नी व्यवस्थित व दीप्त जीवनवाली हो। गृहकार्यों में बड़ी दक्षिण व निपुण हो, प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ व प्राण सभी स्वस्थ हों। उत्तम वस्तुओं का वह प्रशंसनीय प्रयोग करनेवाली हो। 'वृद्धि' को जीवन का सूत्र बनाकर चले। पति 'इन्द्र' हो, ऐश्वर्यशाली व जितेन्द्रिय। घर को स्वर्ग बनाने के लिए यह सब आवश्यक है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—आदित्याः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीजगती [क], ब्राह्मीबृहती [ख]। **स्वरः**—निषादः [क], मध्यमः [ख]॥

सम्राट्

[क]सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवाऽअधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳश्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपꣳसाम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [ख]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१२॥

१. **सम्राट् असि**=तू घर में उत्तमता से शासन करनेवाली है। २. **प्रतीची दिक्**=प्रतीची तेरी दिशा है। यह तुझे (प्रति अञ्च्) वापस लौटने का उपदेश दे रही है। दाक्षिण्य से ऐश्वर्य के बढ़ने पर इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाने की बड़ी आशंका है, अतः तूने इन्द्रियों को विषयों से वापस लौटाने का ध्यान करना है, यही 'प्रत्याहार' है। ३. **आदित्याः ते देवाः**=आदित्य तेरे देव हैं। इनकी आराधना से तू इनकी भाँति ही उत्तमता का आदान करनेवाली हो। इस उत्तमता का निरन्तर आदान **अधिपतयः**=तेरा आधिक्येन रक्षक हो। ४. **वरुणः**=सब प्रकार के द्वेषों का निवारण करनेवाला गृहपति **हेतीनाम्**=घर पर पड़नेवाले वज्रों व कष्टों का **प्रतिधर्त्ता**=प्रतीकार करनेवाला हो। वस्तुतः यह निर्द्वेषता ही घर के कल्याण का साधन हो जाए। ५. **सप्तदश स्तोमः**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि का समूह **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में सेवन करनेवाला हो। इनके द्वारा तेरा शरीर बड़ा ठीक बना रहे। ६. **मरुत्वतीय उक्थम्**=प्रशंसनीय मितभाषण (मरुतः मितराविणः, मरुत्वतीय=मरुतोंवाली मितभाषिता) **अव्यथायै**=पीड़ा न होने देने के लिए **स्तभ्नातु**=तुझे थामे, अर्थात् मितभाषण तेरी पीड़ा के अभाव का कारण बने। ७. **वैरूपं साम**='मुझे विशिष्ट रूपवाला बनना है' इस निश्चय-सम्बन्धी उपासना **अन्तरिक्षे**=हृदयाकाश में **प्रतिष्ठित्यै**=प्रतिष्ठा के लिए हो। तेरे हृदय में यह मूलभूत सिद्धान्त अंकित हो जाए कि 'इस मानव जीवन में मुझे विशिष्ट रूपवाला बनना है।' ८. **त्वा** =तुझे **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः**=प्रथम कोटि में होनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **दिवः मात्रया**=ज्ञान के अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय के विस्तार से **प्रथन्तु**=प्रसिद्ध करें, तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार करें। ९. **विधर्त्ता**=सब द्वेषों के निवारण से आपत्तियों का प्रतीकार करनेवाला यह 'वरुण', **च अयं अधिपतिः** =और अधिष्ठातृरूपेण रक्षक ये आदित्य देव, **ते सर्वे च**=और

वे सब प्रथमज ऋषि—उत्कृष्ट श्रेणी के ज्ञानी लोग **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=सुखमय लोक में **त्वा**=तुझे और **यजमानम्**=यज्ञशील गृहपति को **सादयन्तु**=बिठाएँ। इन सबकी कृपा से गृह स्वर्ग बन जाए।

भावार्थ—पत्नी घर में उत्तमता से शासन करनेवाली हो। अच्छाइयों के ग्रहण के स्वभाववाली, मितभाषिणी, विशिष्ट रूपता को ध्येय बनाकर चलनेवाली हो। पति सब प्रकार के द्वेष का निवारण करनेवाला हो। ये बातें घर को अवश्य स्वर्ग बनाएँगी।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप् [क], ब्राह्मीबृहती [ख]। **स्वरः**—धैवतः [क], मध्यमः [ख]॥

स्वराट्

[क]स्वराड॒स्युदी॑ची॒ दिङ् म॒रुत॑स्ते दे॒वाऽअधि॑पतय॒: सोमो॑ हे॒ती॒नां प्र॑तिध॒र्त्तैक॑वि॒ꣳ शस्त्वा॒ स्तोम॑: पृथि॒व्याꣳश्र॑यतु॒ निष्के॑वल्यमु॒क्थमव्य॑थायै॒ स्तभ्नातु वैरा॒जꣳसाम॒ प्रति॑ष्ठित्याऽअ॒न्तरि॑क्षऽऋष॒यस्त्वा [ख]प्रथ॒मजा दे॒वेषु॑ दि॒वो मात्र॑या व॒रि॒म्णा प्र॑थन्तु विध॒र्त्ता चा॒यमधि॑पतिश्च॒ ते त्वा॒ सर्वे॑ संविदा॒ना नाक॑स्य पृ॒ष्ठे स्व॒र्गे लो॒के यज॑मानं च सादयन्तु ॥१३॥

१. सम्राट् औरों का शासन करता है। पत्नी को सम्राट् तो होना ही है, पर सम्राट् बनने के लिए तू **स्वराड् असि**=अपना शासन करनेवाली बनी है। **उदीची दिक्**=उत्तर तेरी दिशा हुई है। 'उद् अञ्च' ऊपर, और ऊपर उठते जाना ही तूने उदीची से सीखा है। ३. **मरुतः ते देवाः**=मरुत् तेरे आराध्य देव हैं—तूने उनकी भाँति ही (मितराविणः) मितभाषिणी बनने का संकल्प किया है। ये मरुत् ही तेरे **अधिपतयः** =अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं। मितभाषिता जीवन को दीर्घ करनेवाली है। ४. **सोमः**=सौम्य व शान्त स्वभाववाला तेरा पति **हेतीनां प्रतिधर्ता**=घर पर होनेवाले घातक आक्रमणों से तेरी रक्षा करे। उसकी सौम्यता ही वस्तुतः घर की रक्षक बन जाए। ५. **एकविंशः स्तोमः**=शरीर का भरण करनेवाली इक्कीस शक्तियों का समूह तुझे **पृथिव्यां श्रयतु**=इस पृथिवीरूप शरीर में सेवित करे। इन इक्कीस शक्तियों से तेरी शारीरिक स्थिति उत्तम हो। ६. **उक्थम्**=प्रशंसनीय **निष्केवल्यम्** =(निः=बाहर, केवल=सुखरूप प्रभु में विचरना) विषयों से बाहर होकर उस आनन्दमय प्रभु में विचरना **अव्यथायै**=तुझे पीड़ा के अभाव के लिए **स्तभ्नातु**=दृढ़ करे, अर्थात् विषयासक्ति का अभाव तेरे जीवन को सुखी करे। ७. **वैराजं साम**=जीवन को विशिष्टरूप से व्यवस्थित बनाने की भावना ही तेरी प्रभु-उपासना हो और यह **अन्तरिक्षे प्रतिष्ठित्यै**=हृदयान्तरिक्ष में प्रतिष्ठा के लिए हो। यह भावना हृदय में सदा प्रतिष्ठित रहे। यह तेरे जीवन का एक मूलभूत सिद्धान्त बन जाए। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि के तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वा**=तुझे **दिवो मात्रया**=उस-उस ज्ञान के अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=प्रसिद्ध करें व विस्तृत जीवनवाला बनाएँ। ९. **विधर्त्ता च**=अपने सौम्य स्वभाव से घर का विशिष्टरूप से धारण करनेवाला पति 'मरुत्' **अयं अधिपतिः च**=ये मितरावी अधिष्ठातृरूपेण रक्षक मरुत् **ते च सर्वे**=और वे सब तत्त्वद्रष्टा ऋषि **संविदाना**=ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए **त्वा**=तुझे और **यजमानम्**=यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=देदीप्यमान प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें। ये सब तेरे घर को स्वर्ग बनानेवाले हों।

भावार्थ—पत्नी स्वराट्—पूर्ण जितेन्द्रिय हो, मितभाषिता उसके दीर्घ जीवन का कारण बने। वह विशिष्टरूप से जीवन को व्यवस्थित करनेवाली हो। वह ज्ञान के साथ हृदय की विशालतावाली हो। पति सौम्य व शान्त स्वभाव हो—यही घर को स्वर्ग बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती [क], ब्राह्मीत्रिष्टुप् [ख]। **स्वरः**—निषादः [क], धैवतः [ख]॥

अधिपत्नी

[क]अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवाऽअधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳश्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुतेऽउक्थेऽअव्यथायै स्तभ्नीताꣳशाक्वररैवते सामनी [ख]प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१४॥

१. **अधिपत्नी असि**=हे स्त्रि! तू इस घर की आधिक्येन पालयित्री है। २. **बृहती दिक्**=यह प्रौढ़ा बृहस्पतिरूप अधिष्ठातावाली—बढ़ी हुई ऊर्ध्वा तेरी दिशा है। तेरे जीवन का लक्ष्य सर्वोच्च स्थिति में पहुँचना है, तूने ऊर्ध्वा दिशा का अधिपति बनना है। ३. **ते देवाः विश्वे**=बारह विश्वेदेव ही तेरे देव हैं। इन बारह-के-बारह मासों के नामों से तुझे 'इस संसार-वृक्ष की विशिष्ट शाख बनना है, ज्येष्ठ बनना है, कामादि से पराभूत नहीं होना, शुभ उपदेश का श्रवण करना है, इसे ही कल्याण का मार्ग समझना है—इसपर चलने के लिए कल का प्रोग्राम नहीं बनाना—कामादि का कृन्तन करना है—इन्हें आत्मालोचन द्वारा ढूँढ-ढूँढ कर मारना है—इस प्रकार अपना पोषण करना है—यही तेरा ऐश्वर्य है। इस एश्वर्य के सामने सांसारिक ऐश्वर्य तो नितान्त तुच्छ हैं—यही तेरे जीवन का आश्चर्य होगा। ये देव, ये मास इन बातों का बोध दे रहे हैं। यह बोध देकर ये देव ही तेरे **अधिपतयः** =अधिष्ठातृरूपेण रक्षक होंगे। ४. **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति गृहपति **हेतीनाम्**=घर पर आनेवाली घातक बातों का **प्रतिधर्त्ता**=प्रतीकार करनेवाला है। ५. **त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ**=('त्रिणवस्तोमं पुष्टिरित्याहुः'—श० १०।१।१।५) पुष्टि तथा तेतीस देवों का धारण ही **स्तोमौ**=तेरा प्रभु-स्तवन हो और यह पुष्टि व तेतीस देवों का धारणरूप प्रभु-स्तवन **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में **श्रयताम्**=सेवित करनेवाले हों। तेरे शरीर को ये पूर्ण स्वस्थ बनाएँ। ६. **उक्थे वैश्वदेवाग्निमारुते**=प्रशंसनीय विश्वेदेव, अग्नि तथा मरुत ये सब **अव्यथायै**=पीड़ा के अभाव के लिए तुझे **स्तभ्नीताम्**=थामें। तेरा मन दिव्य गुणों का अधिष्ठान बने तो तेरा देह वैश्वानर अग्नि व प्राणापानरूप मरुतों का स्थान बने। दिव्य गुण मन को स्वस्थ बनाएँ और यह वैश्वानर अग्नि व प्राणापान अन्न के ठीक पाचन से शरीर को स्वस्थ करें। ७. **शाक्वररैवते**=शक्ति को प्राप्त करने की भावना तथा धन और ज्ञानधन को प्राप्त करने की भावना **सामनी**=मेरे साम व उपासन हों। ये **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्यै**=प्रतिष्ठिति के लिए हों। मेरे जीवन में ये सिद्धान्त बन जाएँ। इन्हें मैं अपने हृदय से कभी दूर न करूँ। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि के तत्त्वद्रष्टा विद्वान् **त्वा**=तुझे **दिवो मात्रया**=ज्ञान के अमुक-अमुक अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=विस्तृत जीवनवाला बनाएँ। ९. **विधर्त्ता च**=घर को आपत्तियों से बचानेवाला ज्ञानी गृहपति **अयं च अधिपतिः**=और ये आधिक्येन रक्षक 'विश्वेदेव' **ते च सर्वे**=और वे सब ज्ञानी **संविदानाः**=ऐकमत्यवालें होकर **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक

के ऊपर **स्वर्गे लोके**=प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी घर की अधिपत्नी हो। उसका 'शरीर, मन व बुद्धि तीनों को नवीन (त्रि+नव) व पुष्ट बनाये रखना व मन में सब गुणों को धारण करना' ये मौलिक सिद्धान्त हो जाएँ। वह 'शरीर को शक्तिशाली बनाये, मस्तिष्क को ज्ञानधन सम्पन्न करे' इन्हीं को वह प्रभु-उपासन जाने। पति ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने का प्रयत्न करे।

सूचना—(१) १० से १४ तक मन्त्रों में पत्नी की विशेषताओं के सूचक **'राज्ञी, विराट्, सम्राट्, स्वराट् व अधिपत्नी'** शब्द हैं। पति की विशेषता को **अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम** व **बृहस्पति**—ये शब्द कह रहे हैं। इन विशषेताओं को धारण करके स्त्री दुःख से ऊपर उठकर स्वर्ग में स्थित हुआ करती है। (२) जीवन के मौलिक सिद्धान्तों की सूचना 'रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज व शाक्वररैवत' इन साम-संज्ञा शब्दों से होती है। (क) हमें शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करना है। (ख) वृद्धि को प्राप्त करना है। (ग) विशिष्ट रूपवाला बनना है। (घ) हमारा जीवन विशिष्ट रूप से दीप्त व व्यवस्थित हो। (ङ) हम 'शक्ति-धन' व 'ज्ञान-धन' का सम्पादन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—वसन्तर्तुः। **छन्दः**—विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

हरिकेश

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्षणवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥१५॥

१. राष्ट्र में राजा 'परमेष्ठी'=सर्वोच्च स्थान में स्थित है। **अयम्**=यह **पुरः**=राष्ट्र का पालन व पूरण करनेवाला है। (पॄ पालनपूरणयोः) अथवा राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला है (पुरः=आगे, fore)। २. **हरिकेशः**=(केशाः रश्मयः काशनाद्वा—नि० १२।२६) इसकी ज्ञानरश्मियाँ राष्ट्र के कष्टों का हरण करनेवाली हैं। **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान इसकी ज्ञानरश्मियाँ सारे राष्ट्र को प्रकाशित करनेवाली हैं। स्वयं यह 'सर्ववेदवित्' बना है। इसने ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करके सारे राष्ट्र में ज्ञान के फैलाव की व्यवस्था की है। यह ज्ञान लोगों के दुःखों का हरण करनेवाला हुआ है। ३. **तस्य**=आगे ले-चलनेवाले राजा का **रथगृत्सः**=(रथेगृत्सः मेधावी) रथ में निपुण **सेनानीः**=सेनापति है तथा **रथौजाः**=(रथे ओजो यस्य) रथ के क्षेत्र में ओजस्वी **ग्रामणी**=ग्रामनायक है। इसके ये दोनों परिचारक 'वासन्तिकौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१६' प्रजा का उत्तम निवास करनेवाले तथा उनकी जीवन-मर्यादा को ऋतुओं की भाँति व्यवस्थित करनेवाले हैं। सेनापति ने रथगृत्स होना ही है। ग्रामणी ने भी प्रजा के निरीक्षण के लिए रथौजा ही होना है, कुर्सी के ओजवाला नहीं। ४. इस राजा की सेना के दृष्टिकोण से 'पुञ्जिकस्थला' अप्सरा है तथा ग्राम के दृष्टिकोण से 'क्रतुस्थला' अप्सरा है **पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला च अप्सरसौ**=(पुञ्जिकस्य स्थलं यस्याः) सेना को पुञ्जीभूत—न तितर-बितर हुआ-हुआ रखनेवाला अफ़सर है तथा ग्राम को (क्रतूनां स्थलं यस्याः) यज्ञों का स्थल बनानेवाला अफ़सर है (अप्सरस्=अफ़सर, officer)। सेनानी का मुख्य कार्य सेना को सङ्गठित रखना है, ग्रामणी का मुख्य कार्य ग्राम में यज्ञादि उत्तम कार्यों

का प्रवर्त्तन है। ५. सेनानी के दृष्टिकोण से **दङ्क्षणवः पशवः**=दशनशील पशु=व्याघ्रादि की भाँति शत्रुसैन्य को चीर-फाड़ देनेवाले सैनिक **हेतिः**=वज्र हैं, प्रहार के साधन हैं तथा ग्रामणी के दृष्टिकोण से **पौरुषेयः**=फाँसी के लिए नियुक्त पुरुष के द्वारा किया जानेवाला **वधः**=वध **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र है। वस्तुतः इस पौरुषेय वध के द्वारा ही राष्ट्र में होनेवाले बड़े पापों की समाप्ति की जा सकती है। एक ब्लैकमार्केटिंग करनेवाले के फाँसी पर चढ़ते ही सब व्यापार शुद्ध हो जाता है—एवं यह 'पौरुषेय वध' सचमुच 'प्रहेति'=प्रकृष्ट वज्र है। ६. **तेभ्यः**=उनके पुरः=सामने यः=जो अग्नि है और उसके सेनानीं व ग्रामणी हैं तथा उसके अप्सरस् हैं और जो हेति, प्रहेति हैं, इन सबके लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार है। **ते नः अवन्तु**=ये सब हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम सब **यं द्विष्मः**=जिस भी व्यक्ति को प्रीति नहीं कर पाते **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन सेनानी-ग्रामणी आदि के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्याय के जबड़ों में **दध्मः**=स्थापित करते हैं, स्वयं क़ानून को हाथ में न लेकर हम उसे इन न्यायाधीशों को सौंपते हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला, दुःख का हरणकारी, ज्ञान से परिपूर्ण, सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियों से प्रजा में प्रकाश फैलानेवाला हो। इसके परिचारक रथों से प्रजा में विचरण करनेवाले हों—कुर्सियों को ही सँभाले रखनेवांले नहीं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—ग्रीष्मर्तुः। **छन्दः**—निचृत्प्रकृतिः। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वकर्मा

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षाꣳसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१६॥

१. **अयं दक्षिणा**=यह राजा दक्षिणा दिग् का अधिपति है, अर्थात् दाक्षिण्य का—नैपुण्य का—अधिपति है। २. दाक्षिण्य का अधिपति होता हुआ यह विश्वकर्मा—'विश्वस्मिन् करोति' सदा कार्यों का करनेवाला है, 'अयं वै वायु विश्वकर्मा०—श० ८।६।१।१७' वायु की भाँति सदा क्रियाशील है। ३. **तस्य**=उस राजा का **रथस्वनः**=(रथे स्थितः स्वनति) युद्ध-रथ पर आरुढ़ होकर शत्रुओं को ललकारनेवाला **सेनानीः**=सेनापति है तथा **रथेचित्रः**=(रथे स्थितः आश्चर्यकारी) सदा रथारुढ़ होकर आश्चर्यजनक शक्ति से निरन्तर कार्यों को करनेवाला एक **ग्रामणीः**=ग्रामनायकं है। ग्रैष्मौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१७।—ये सदा सोत्साह हैं और बड़ी व्यवस्थित गतिवाले हैं। ४. शत्रु पराजय के द्वारा मान पानेवाला 'मेनका' (मानयन्ति एनाम्)=सम्मानित सेनानी **अप्सरसौ**=अफ़्सर है तथा ग्रामणी रूप अफ़्सर **सहजन्या**=लोगों के अन्दर मिलकर कार्यों को विकास करने की भावना को जन्म देनेवाला है। आजकल के कोऑपरेटिव सिस्टम तथा कम्युनिटी प्रोजेक्ट्स इस 'सहजन्या' शब्द से संकेतित हो रहे हैं। ५. सेनानी दृष्टिकोण से **यातुधानाः**=शत्रुओं में पीड़ा का आधान करनेवाले—प्रतिक्षण उनकी सिरदर्दी का कारण बननेवाले सैनिक **हेतिः**=वज्र हैं—राष्ट्र की बाह्य आक्रमणों से रक्षा के साधन हैं और ग्रामणी के दृष्टिकोण से रक्षांसि (रक्ष् resque) रक्षा के लिए नियत चौकीदार व पुलिस के व्यक्ति **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र हैं। ये सदा राष्ट्र को अन्दर की अव्यवस्था

से बचाते हैं। ६. **तेभ्यः**=इस वायु सदृश राजा, उन सेनानी, ग्रामणी, अप्सरस् व हेति और प्रहेति सबके लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=वे हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=वे हमारे जीवन को सुखी बनाएँ। **ते**=वे **यं द्विष्मः**=अवाञ्छनीय होने से जिसके प्रति हम सब प्रेम नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=जो हम सबके साथ द्वेष करता है **तम्**=उसको **एषाम्**=इन राजा व उसके अफ़्सरों के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्यायरूप जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा वायु की भाँति नैसर्गिकी क्रियावाला है—आलस्य से दूर है। इसके सेनानी शत्रु-पराजय द्वारा राष्ट्र का मान बढ़ाते हैं और ग्रामणी लोगों में मिलकर कार्य करने के द्वारा विकास की भावना को दृढ़-मूल करते हैं।

ऋषिः-परमेष्ठी। **देवता**—वर्षर्तुः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

विश्वव्यचाः

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ। प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१७॥

१. **अयं पश्चात्**=यह राजा इन्द्रियों को विषयों से पीछे खेंचनेवाला, **विश्वव्यचाः**=(असौ वा आदित्यो विश्वव्यचाः—श० ८।६।१।१८) उदय होते ही पश्चिम की ओर (प्रतीची की ओर) चलना प्रारम्भ करनेवाले सूर्य के समान है (विश्वं विचति व्याप्नोति प्रकाशयति)। जैसे सूर्य सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करता है, इसी प्रकार इसकी शासन-शक्ति भी सारे राष्ट्र में व्याप्त होती है। सूर्य की भाँति यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है—सूर्य की भाँति कररूप जल का ग्रहण करता है। सूर्य की भाँति मलों को नष्ट कर राष्ट्रीय नीरोगता उत्पन्न करता है। २. **तस्य**=इस राजा के **रथप्रोतः च**=रथ में प्रोत—स्थिर-सा हुआ-हुआ—सदा रथ से बँधा हुआ **सेनानीः**=सेनापति है। **असमरथः च**=अद्वितीय रथवाला—विशिष्ट गाड़ीवाला **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। सेनापति आवश्यकता पड़ते ही सदा युद्ध के लिए तैयार है, और ग्रामणी सदा रथ पर इधर-उधर घूमता हुआ व्यवस्था में लगा है—इसका रथ कभी विश्रान्त न होने से अद्भुत है। 'वार्षिकौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१८' ये अपनी निरन्तर क्रियाशीलता से प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं और बड़ी नियमित गतिवाले हैं। ३. प्रम्लोचन्ती (अहः—श० ८।६।१।१८) जैसे दिन में सब प्राणी गतिवाले होते हैं उसी प्रकार **प्रम्लोचन्ती**=सेनानी के दृष्टिकोण से सेना को प्रकृष्ट गति देनेवाले इसके **अप्सरस्**=ऑफ़िसर्स होते हैं और ग्रामणी के दृष्टिकोण से (अनुम्लोचनी रात्रिः—श० ८।६।१।१८) प्रति रात्रि की समाप्ति पर कार्यों में व्याप्त होनेवाले **अप्सरस्**=अफ़्सर होते हैं। सेना ने दिन-रात चौकन्ना रहना है, गति में रहना है। राष्ट्र के अन्य अध्यक्षों ने भी प्रतिदिन कार्य में व्याप्त होना है (म्लोचति=to go, move)। संक्षेप में सब अफ़्सरों क्या फौजी और क्या सिविलियन—सभी के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। ४. शत्रुओं से रक्षा करनेवाले **व्याघ्राः**=व्याघ्रों के समान सैनिक **हेतिः**=इसके राष्ट्र-रक्षक वज्र हैं तो **सर्पाः**=ग्रामणी के दृष्टिकोण से गुप्तचर रूप में सब न्यूनताओं का पता लगानेवाले **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र हैं। ये राष्ट्र को अन्तः उपद्रवों से बचाने में सहायक होते हैं। ५. **तेभ्यः**=इस आदित्यतुल्य राजा, उसके सेनानी, ग्रामणी, उसके

अप्सरस् तथा हेति-प्रहेति का **नमः अस्तु**=हम आदर करते हैं। **ते नः अवन्तु**=वे हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=वे हमें सुखी करें। **ते**=वे **यं द्विष्मः**=जिसे हम प्रीति नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=और जो हमारे साथ द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन अधिकारियों के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं, वे ही इन्हें उचित दण्ड देते हैं।

भावार्थ—राजा सूर्य की भाँति सर्वत्र प्रकाश फैलानेवाला हो, रोगकृमियों के नाश के लिए सफ़ाई का प्रबन्ध करे, सूर्यकिरणें जैसे जल को ले-जाती हैं, यह भी थोड़ा-थोड़ा कर ले। इसके कर्मचारी स्वयं क्रियाशील हों और प्रजा में भी क्रियाशीलता की प्रवृत्ति को पैदा करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—शरदृतुः। **छन्दः**—भुरिगतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

संयद् वसुः

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ। विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥१८॥

१. **अयम्**=यह राजा **उत्तरात्**=उत्तर दिशा में स्थित होता हुआ सचमुच राष्ट्र को उत्कृष्ट बनाता है। २. राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए ही यह **संयद्वसुः**=धन का नियमन करता है (वसु संयच्छति), करादि के उत्तम नियमों को बनाकर तथा व्यापार को भी व्यवस्थित करके यह धन को किसी एक स्थान में केन्द्रित नहीं होने देता। ३. **तस्य**=इसका **सेनानीः**=सेनापति **तार्क्ष्यः**=शत्रुओं पर उसी प्रकार आक्रमण करनेवाला होता है जैसेकि गरुड़ सर्पों पर और इसका **ग्रामणीः**=ग्रामनायक **अरिष्टनेमिः**=धर्म-मार्गों की परिधि को या मर्यादा को हिंसित नहीं होने देता (**अ**=नहीं **रिष्ट**=हिंसित **नेमि**=मर्यादा) ४. सेनानी के दृष्टिकोण से इसके **अप्सरस्**=ऑफ़िसर्स **विश्वाची**=सारे राष्ट्र की सीमा पर, राष्ट्र के चारों ओर गतिवाले होते है तथा ग्रामनायक के **अप्सरस्**=अफ़्सर **घृताची**=घृतादि उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। इस प्रकार ये 'शारदौ ऋतू'=बाहर व अन्दर के उपद्रवों को शीर्ण करनेवाले व नियमित गति से राष्ट्र को चलानेवाले होते हैं। अन्दर के उपद्रव प्रायः तभी होते हैं, जब प्रजा को आवश्यक पदार्थ भी दुर्लभ हो जाते हैं। ५. **आपः**=सारे प्रान्त-भागों में व्याप्त हो जानेवाले (आप्लृ व्याप्तौ) सैनिक ही इसके **हेतिः**=शत्रुओं से रक्षक वज्र के समान हैं और **वातः**=वायु के समान प्रजा को जीवन देनेवाले ग्रामाध्यक्ष इसके **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र है, क्योंकि ये ही राष्ट्र को अन्तःकोप का शिकार नहीं होने देते। ६. **तेभ्यः**=इन सबके लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=ये हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम **यं द्विष्मः**=जिससे प्रीति नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=और जो हम सबसे द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन अधिकारियों के **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा का यह महान् कार्य है कि वह राष्ट्र में धन का पूर्ण नियमन करे। इसी के विषम असम-विभाग से राष्ट्र में अतिभुक्त (overfed) व अल्पभुक्त (underfed) ये दो श्रेणियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और राष्ट्र रोगी हो जाता है। इसके सैनिक सारे प्रान्त-भाग में व्याप्त होकर देश की रक्षा करें और अन्य अध्यक्ष जीवन की आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने की व्यवस्था करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—हेमन्तर्तुः। छन्दः—निचृत्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

अर्वाग् वसुः

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ। उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसावव स्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१९॥

१. **अयम्**=यह राजा **उपरि**=ऊर्ध्व दिशा में स्थित है, राष्ट्र में सर्वोच्च स्थान में स्थित होने से यह सचमुच 'परमेष्ठी' है। २. इस उच्चस्थान में स्थित होता हुआ यह **अर्वाग् वसुः**=नीचे आनेवाले धनवाला है। जैसे सूर्य किरणों द्वारा जल लेता है, परन्तु सारे-के-सारे जल को पर्जन्य के रूप में करके बरसा देता है, उसी प्रकार यह राजा कर के रूप में प्रजा से धनों को लेता है, परन्तु उसे प्रजाहित के लिए ही बरसा देता है। यह राष्ट्रकोश को अपने लिए 'वशा गौ' (बाँझ गौ) के समान समझता है, उससे अपने महल नहीं बना लेता। कालिदास के शब्दों में 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'= यह प्रजाओं के कल्याण के लिए ही उनसे कर लेता है और सूर्य की भाँति सहस्र गुणा करके बरसा देता है, अतः यह सचमुच 'अर्वाग् वसु' है। ३. इस कार्य में **तस्य**=उसके सहायक **सेनजित् च**=सेना के द्वारा शत्रु का विजय करनेवाला **सेनानीः**=सेनापति है तथा **सुषेणः च**=ग्रामों से उत्तम सैनिकों को प्रस्तुत करके उत्तम सेना बनानेंवाला **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। ४. **अप्सरसौ**=इसके सैनिक अप्सर **उर्वशी**=खूब ही शत्रुओं को वश में करनेवाले हैं तथा ग्रामों के अप्सर **पूर्वचित्तिः च**=प्रत्येक कार्य को पहले से सोचकर करनेवाले हैं। ५. **अवस्फूर्जन्**=(स्फूर्जा वज्रनिर्घोषे) शत्रु-सेना के समक्ष वज्र निर्घोष करते हुए सेनानायक इसके **हेतिः**=(शत्रुनाशक, राष्ट्र रक्षक) वज्र हैं तथा **विद्युत्**=राष्ट्र में सर्वत्र विशिष्ट द्युति को फैलानेवाले और इस प्रकार अपराधों की संख्या को कम करनेवाले ग्रामाध्यक्ष **प्रहेतिः**=पापनाशक प्रकृष्ट वज्र हैं। इस प्रकार ये सेनानी व ग्रामणी 'हैमन्तिकौ ऋतू—श० ८।६।१।२०' राष्ट्र की वृद्धि करनेवाले तथा उसे नियमित गतिवाला करनेवाले हैं। ६. **तेभ्यो नमः अस्तु**=हम इन सबका आदर करते हैं। **ते नः अवन्तु**=ये हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम **यं द्विष्मः**=जिसे प्रीति नहीं करते **यः च नः द्वेष्टि**=जो हम सबके साथ द्वेष करता है, **तम्**=उसे **एषाम्**=इनके **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा करादि से प्राप्त धन को प्रजाहित में ही विनियुक्त करे। राष्ट्र की सेना उत्तम हो। सेनानी शत्रुओं को वश में करे तो ग्रामनायक प्रत्येक कार्य को सोचकर करे। राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रजाजन क़ानून को अपने हाथ में न लें, इन अध्यक्षों को ही न्याय का कार्य सौंपा जाए।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ककुत्पतिः=सर्वोच्च रक्षक

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति ॥२०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित राजा **अग्निः**=अग्रेणी बनता है। यह स्वयं उन्नति करते हुए सारे राष्ट्र को आगे ले-चलता है। २. **मूर्धा**=यह राष्ट्र का मूर्धा बनता है, मस्तिष्क से जैसे सारे शरीर की सारी क्रियाओं की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार यह राष्ट्र की सब क्रियाओं का व्यवस्थापन करता है। ३. **अयम्**=यह **दिवः**=प्रकाश का, मस्तिष्क में ज्ञान को परिपूर्ण

करने का तथा **पृथिव्याः**=शारीरिक स्वास्थ्य का **ककुत् पतिः**=चोटी का रक्षक–रक्षक शिरोमणि बनता है। यह इस बात का ध्यान करता है कि राष्ट्र में कोई व्यक्ति अनपढ़ न रह जाए तथा यह भी व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है कि सबके शरीर स्वस्थ हों। संक्षेप में, यह शिक्षा–विभाग व स्वास्थ्य–विभाग को सर्वाधिक महत्त्व देता है, अधिक–से–अधिक विद्यालयों की स्थापना तथा सफ़ाई का ध्यान करके यह लोगों के मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाने के लिए यत्नशील होता है। ४. यह **अपाम्**=प्रजाओं के (आपो नारा इति प्रोक्ताः) **रेतांसि**=शक्तियों को **जिन्वति**=प्रीणित करता है। उनके जीवन में स्वास्थ्य व संयम के महत्त्व को बढ़ाकर यह उन्हें शक्ति–सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ–१. राजा को राष्ट्र का अग्रणी बनना है। २. यह राष्ट्र–शरीर का मस्तिष्क बने। ३. प्रजाओं के ज्ञान व स्वास्थ्य का ध्यान करे। ४. प्रजाओं को शक्ति–सम्पन्न बनाये।

ऋषिः–परमेष्ठी। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृद्गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

अग्नि कौन है? मूर्धा

अयमग्निः सहस्त्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः। मूर्धा कवी रयीणाम्॥२१॥

१. पिछले मन्त्र में कहे गये अग्नि का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः अयम्**=आगे बढ़नेवाला यह वह है जोकि **सहस्त्रिणः**=(स हस्) सदा हास्य व आनन्द से युक्त **शतिनः**=सौ वर्ष तक चलनेवाले **वाजस्य**=बल का **पतिः**=रक्षक है, अर्थात् जो अपनी शक्ति को सौ–के–सौ वर्ष तक स्थिर रखता है और इस शक्ति के कारण ही प्रसन्न जीवनवाला होता है, खिझता नहीं। वीरत्व के कारण virtuous बना रहता है। २. **मूर्धा**=यह शिखर पर पहुँचता है क्योंकि **रयीणां कविः**=धनों का सूक्ष्मदर्शी होता है। धनों के वास्तविक रूप को समझकर वह उनका पति ही बना रहता है, कभी उनका दास नहीं हो जाता। इसे यह भूलता नहीं कि मैं धन का दास बना और मेरा निधन हुआ। धन की दासता ही उन्नति के मार्ग में सर्वाधिक रुकावट है। धन का दास लक्ष्मीपति नारायण को भी भूल जाता है, अतः धनों के तत्त्व को समझे रखना आवश्यक है। इनके स्वरूप को भूलना नहीं चाहिए। यही इनका 'कवि' बनना है। धन के दास न बनकर हम निरन्तर आगे बढ़ते हैं, हमारा ज्ञान बढ़ता है और प्रभु का दर्शन कर हम सर्वोच्च स्थिति में होते हैं।

भावार्थ–हम आनन्दयुक्त शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाली शक्ति के पति हों। शिखर पर पहुँचें। धन के वास्तविक स्वरूप को समझते हुए उसमें उलझें नहीं।

ऋषिः–परमेष्ठी। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृद्गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

अथर्वा

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥२२॥

१. धन में न उलझनेवाला आगे और आगे बढ़ता हुआ **अथर्वा**=धन की चमक से डाँवाँडोल न होनेवाला हे **अग्ने**=सर्वमहान् अग्रणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको **निरमन्थत**=मन्थन करके ग्रहण करता है। जैसे दधि के मन्थन से नवनीत के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी मन्थन से प्रभु का दर्शन होता है। २. कहाँ मन्थन से? **पुष्करादधि**=हृदयान्तरिक्ष में। 'पुष्कर' वह हृदय है जहाँ उत्तमोत्तम भावनाओं का पोषण (पुष्ट) किया गया है (कर) और जो **पुष्कर**=कमल की भाँति धन के पानी में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।

३. फिर कहाँ से? **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से। जो मस्तिष्क **विश्वस्य वाघतः**=प्रभु की सम्पूर्ण रचना—कृति के ज्ञान को धारण किये हुए है। ५. एवं, प्रभु के ज्ञान के लिए हृदय को उत्तमोत्तम भावनाओं के पोषण से पानी में रहनेवाले कमल की भाँति निर्लेप बनाना चाहिए तथा मस्तिष्क को सब विज्ञानों का वहन करनेवाला। हृदय व मस्तिष्क दोनों का विकास ही प्रभु-दर्शन कराएगा, अतः हम 'मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्—अथर्व०' मस्तिष्क व हृदय दोनों को परस्पर सीं देनेवाले अथर्वा बनें।

भावार्थ—हृदय को हम पुष्कर=कमल बनाएँ, मस्तिष्क को सम्पूर्ण ज्ञान का वाहक और इस प्रकार प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु-धारक के लक्षण, आत्मद्रष्टा के चिह्न

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्॥२३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाला अपने जीवन में **यज्ञस्य**=श्रेष्ठतम कर्मों का **नेता भुवः**=प्रणयन करनेवाला होता है। २. उन यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए ही **रजसः च नेता**=(रजसस्त्वर्थ उच्यते) धन का उत्तम मार्ग से प्रणयन करनेवाला बनता है। 'अग्ने नय सुपथा राये' यह उसकी आराधना होती है। 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'=हम धनों के पति बने रहें। उनके दास बनकर कृपण वृत्तिवाले न हो जाएँ। उनके प्रभु होते हुए यज्ञों में उनका विनियोग करते रहें। ३. परन्तु ऐसा तू तभी कर सकता है **यत्र**=जिस काल में तू—**शिवाभिः**=कल्याण में प्रवृत्त होनेवाले **नियुद्भिः**=इस वायु नामक जीव के इन्द्रियरूप घोड़ों से जोकि सदा निश्चयपूर्वक उत्तम कर्मों में लगाये रक्खे जाते हैं (नि+यु) **सचसे**=युक्त होता है। तू वायु है—आत्मा है (वा गतौ=अत गतौ) ये इन्द्रियाँ तेरे घोड़े हैं। इनको तूने कर्मों में लगाये रखकर 'नियुत्' इस अन्वर्थक नामवाला बनाना है। यह ध्यान रखना है कि ये सदा शिवमार्ग में ही प्रवृत्त हों। ४. तू अपने **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **दधिषे**=धारण करता है। मस्तिष्क को सदा ज्ञान के प्रकाश से व्याप्त रखने के लिए यत्नशील होता है। ५. और **अग्ने**=हे अग्रेणी जीव! तू **जिह्वाम्**=अपनी जिह्वा को **स्वर्षाम्**=(स्वः सनोति) उस देदीप्यमान प्रभु का सम्भजन करनेवाली बनाता है, अथवा जिह्वा को ज्ञान का सेवन करनेवाली करता है और इसी उद्देश्य से ६. **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही वहन करनेवाली **चकृषे**=करता है। यह सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करती है।

भावार्थ—आत्मद्रष्टा पुरुष वह है जो १. यज्ञमय जीवनवाला होता है। २. यज्ञार्थ ही धनार्जन करता है। ३. शिव मार्ग में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों का स्वामी बनता है। ४. मस्तिष्क को ज्ञान में स्थापित करता है। ५. जिह्वा से प्रभु-नामोच्चरण करता है। ६. सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

उन्नति के चार प्रमाण

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाऽइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ॥२४॥

१. गत मन्त्र का आत्मद्रष्टा जिन प्रयाणों से चलकर उस स्थिति में पहुँचता है, उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **जनानाम्**=(जन् प्रादुर्भाव) प्रादुर्भाव व जीवन का विकास करनेवाले माता-पिता व आचार्यों की **समिधा**=सन्तान में रक्खी गई ज्ञान-दीप्ति से (इन्धृ=दीप्ति) **अग्निः**=अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाशवाला युवक **अबोधि**=उद्बुद्ध जीवनवाला बनता है। ब्रह्मचर्याश्रम में यह 'मातृमान् पितृमान् व आचार्यवान् पुरुष' ज्ञान-सम्पन्न हो पाता है। २. अब यह आचार्यकुल से समावृत्त होकर जीवन-यात्रा के दूसरे प्रयाण गृहस्थ में प्रवेश करता है और **प्रति आयतीम् उषासम्**=प्रत्येक आनेवाले उषःकाल में यह **जनानाम्**=सब लोगों के-'ब्रह्मचारी, वनस्थ व संन्यासियों' के लिए **धेनुम् इव**=धेनु के समान होता है। ३. गृहस्थ-भार वहन कर चुकने के बाद सब सन्तानों को यथास्थान स्थापित कर देने पर **इव**=जैसे **यह्वाः**=(महान्तः जातपक्षाः-उ०) उत्पन्न पंखोंवाले पक्षी **वयाम्**=शाखा को छोड़कर आगे बढ़नेवाले होते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ **यह्वाः**=बड़े होकर (यातश्च हूतः च) प्रभु की ओर चलनेवाले व प्रभु को ही पुकारनेवाले होकर **वयाम्**=इस प्रजातन्तु सन्तानवाले आश्रम को **प्रउज्जिहानाः**=प्रकर्षेण छोड़ने की इच्छावाले होते हैं। नहीं छोड़ते तो जैसे पक्षी को उसी के माता-पिता चोचें मारकर निकाल देते हैं, उसी प्रकार यहाँ सन्तानें तङ्ग करके निकलने के लिए बाधित कर देती हैं। ४. अब वानप्रस्थ में निरन्तर स्वाध्याय से **प्रभानवः**=प्रकृष्ट ज्ञान-दीप्तिवाले बनकर **नाकम् अच्छ**=उस क्लेश लव से अपरामृष्ट, पूर्णानन्दमय रस नामवाले प्रभु की ओर **सिस्रते**=बढ़ चलते हैं (प्रसर्पन्ति-द०)। संन्यासी सब उत्तरदायित्वों से निपटकर भूतहित में प्रवृत्त हुआ-हुआ प्रभु की ओर ही तो बढ़ रहा है।

भावार्थ-जीवन के चार प्रयाण=पड़ाव हैं। प्रथम में ज्ञानदीप्त बनना है, द्वितीय में सभी का पालन करना है, तृतीय में घर को छोड़ वनस्थ हो उस प्रभु की ओर चलना है, उसी को पुकारना है और चतुर्थ में प्रकृष्ट दीप्तिवाले होकर प्रभु को पाना है।

ऋषिः-परमेष्ठी। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

वन्दारु वचः

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे।
गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत्॥२५॥

१. जीवन के इन प्रयाणों में चलते हुए हम उस प्रभु के लिए **वन्दारु वचः**=अभिवादन व स्तुति करनेवाला बचन **अवोचाम**=बोलें, जो प्रभु (क) **कवये**=सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले हैं 'कौति सर्वा विद्याः'। (ख) **मेध्याय**=जो पूर्ण पवित्र हैं और अतएव 'मेधृ सङ्गमे'=सङ्गम के योग्य हैं। (ग) **वृषभाय**=जो शक्तिशाली व श्रेष्ठ हैं। (घ) **वृष्णे**=सब सुखों का सेचन करनेवाले हैं। २. **गविष्ठिरः**=वेदवाणी व इन्द्रियों में स्थिर-पूर्ण जितेन्द्रिय व ज्ञानी व्यक्ति **नमसा**=नमन के द्वारा **अग्नौ**=उस अग्रेणी प्रभु में **स्तोमं अश्रेत्**=स्तुति का सम्भजन करता है। प्रभु का स्तवन करनेवाला वही है जो 'गविष्ठिर' है, ज्ञानी व जितेन्द्रिय है, जो विनीतता व नम्रता से युक्त है। ३. यह उसी प्रकार स्तवन करता है **इव**=जैसे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **रुक्मम्**=हिरण्य की भाँति देदीप्यमान ज्ञान की ज्योति को सम्बद्ध करता है। ४. और हाथों में **उरुव्यचम्**=(उरुषु बहुषु विशेषेण अच्छति-द०) बहुतों के कल्याण में प्रवृत्त होनेवाली गति को जोड़ता है। ५. एवं, इस संन्यस्त भक्त के जीवन में वाणी प्रभु नामोच्चारण करती है, हृदय प्रभु-स्तवन करता हुआ उसके प्रति नत होता है-मस्तिष्क

ज्ञान-दीप्ति का आश्रय करता है और हाथ लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—मेरी वाणी प्रभु नाम का उच्चारण करे। हृदय नम्रतापूर्वक प्रभु-स्तवन करता हो, मस्तिष्क प्रभु के साम्राज्य के ज्ञान से दीप्त हो और हाथ अधिक-से-अधिक प्राणियों के हित में लगे हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

(उस प्रभु के लिए) वनेषु चित्रम्

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥२६॥

१. **अयं प्रथमः**=यह आद्य पुरुष—सृष्टि बनने से पहले ही वर्त्तमान स्वयम्भू परमात्मा **इह**=इस मानव-जीवन में **धातृभिः**=धाताओं—लोकहित में लगे व्यक्तियों से **धायि**=धारण किया जाता है। प्रभु का धारण वही कर पाते हैं जो अधिक-से-अधिक लोकहित में प्रवृत्त होते हैं। २. इन धाताओं से अपने हृदयों में उस प्रभु का धारण होता है जो (क) **होता**=सब-कुछ देनेवाला है—उस दाता प्रभु का स्मरण करते हुए ये भी देनेवाले बनते हैं। (ख) **यजिष्ठः**=सर्वाधिक पूज्य है—सबके साथ सङ्गतीकरणवाला है और वस्तुतः संसार के सभी पदार्थों व इन्द्रियादि का देनेवाला है। जिसका दान निरतिशय है। इस प्रभु का स्मरण करते हुए ये भक्त भी अधिक-से-अधिक प्राणियों के सम्पर्क में आते हैं और उनके कष्टों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। (ग) **अध्वरेष्वीड्यः**=हिंसाशून्य महान् यज्ञों में वह प्रभु ही स्तुति के योग्य है। वस्तुतः उस प्रभु की कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण होते हैं। प्रभु का इस रूप में स्मरण करता हुआ भक्त यज्ञों की सफलता में गर्ववाला नहीं हो जाता। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको (क) **अप्नवानः**=उत्तम यज्ञिय कर्मोंवाले और अतएव उत्तम रूपवाले (अप्न=A sacrificial act; shape) **भृगवः**=ज्ञानविदग्ध (भ्रस्ज पाके) तेजस्वी पुरुष **विरुरुचुः**=(रोचयामासुः—म०) अपने हृदय-मन्दिर में दीप्त किया करते हैं। (ख) जो प्रभु **वनेषु**=सम्भजनशील भक्त पुरुषों में (वन=संभक्तौ) अथवा जितेन्द्रिय पुरुषों में (वन्= win) **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान देनेवाले हैं तथा (२) **विशेविशे**=प्रत्येक प्रजा में **विभ्वम्**=व्यापक रूप से विद्यमान हैं अथवा प्रत्येक व्यक्ति में विभुत्व शक्ति से युक्त हैं। उस-उस को वह-वह शक्ति प्राप्त करा रहे हैं। बुद्धिमानों की वे बुद्धि हैं तो बलवानों के वे बल हैं।

भावार्थ—प्रभु धाताओं से—औरों का धारण करनेवालों से धारण किया जाता है। उपासकों को वे प्रभु ज्ञान देते हैं, वे सबको शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

गोपाः

जनस्य गोपाऽअजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः॥२७॥

१. प्रभु का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **जनस्य**=अपने जीवन में विकास करनेवाले के **गोपाः**=वे प्रभु रक्षक हैं। 'गोपाः' शब्द कुछ ऐसा संकेत करता है कि मनुष्य गौएँ हैं तो प्रभु उनके ग्वाले हैं। २. **जागृविः**=वह रक्षक सदा जागरणशील है—सदा सावधान है। ३. **अग्निः**=वह हमें निरन्तर आगे ले-चल रहा है। ४. **सुदक्षः**=(दक्ष to grow) वह

उत्तमता से उत्साहित करता हुआ हमारी वृद्धि का कारण है। ५. वह **सुविताय**=उत्तम आचरण के लिए और **नव्यसे**=(नु स्तुतौ) स्तुत्य आचरण के लिए **अजनिष्ट**=होता है। जब तक हम उस प्रभु को भूलते नहीं तब तक हमारी जीवन की गाड़ी पथभ्रष्ट नहीं होती। ६. वे प्रभु **घृतप्रतीकः**=दीप्त मुखवाले हैं। अपने इन दीप्तमुखों से वे अपना दीप्त ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को दे रहे हैं' यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'=प्रभु में सब इन्द्रियों के गुणों का आभास ही है—उस निराकार प्रभु के इन्द्रियाँ तो हैं ही नहीं। ७. वे **शुचिः**=पूर्ण पवित्र प्रभु **बृहता**=निरतिशय वृद्धिवाले **दिविस्पृशा**=द्युलोक को स्पर्श करनेवाले, अर्थात् व्यापक ज्ञान से **द्युमद्**=ज्योतिवाले होकर **भरतेभ्यः**=औरों का भरण करनेवालों के लिए, सदा परोपकाररूप यज्ञ करनेवालों के लिए **विभाति**=चमकते हैं, प्रकाशित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन उन भक्तों को ही होता है जो औरों का भरण करनेवाले—यज्ञिय जीवनवाले हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सहसस्पुत्रः

त्वामग्नेऽअङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः॥२८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी—सर्वोन्नति-साधक प्रभो! **गुहा हितम्**=हृदयरूप निगूढ प्रदेश में स्थित **त्वाम्**=आपको **अङ्गिरसः**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति **अनु अविन्दत्**=आत्मदर्शन के बाद (अनु) प्राप्त करते हैं। जब मनुष्य चित्तवृत्ति का निरोध करके अन्तर्यात्रा करता हुआ अपने स्वरूप में अवस्थित होता है तभी वह प्रभु-दर्शन कर पाता है। २. उस प्रभु को देख पाता है जो **वनेवने**=सब जितेन्द्रिय पुरुषों में तथा (वन= ray of light) ज्ञान के पुञ्ज बने हुए पुरुषों में **शिश्रियाणम्**=अवस्थित हैं, आश्रय किये हुए हैं। जितेन्द्रिय व ज्ञानी पुरुष ही प्रभु का आश्रय बनते हैं। सर्वव्यापकता के नाते सर्वत्र होते हुए भी प्रभु इन्हीं में प्रकट होते हैं। ३. हे प्रभो! **सः**=वे आप **जायसे**=प्रकट होते हैं। कब? जबकि **मथ्यमानः**=वे अङ्गिरस् आपका मन्थन करते हैं। जैसे दो अरणियों की रगड़ से अग्नि प्रकट होती है, इसी प्रकार हृदय व मस्तिष्करूप अरणियों के मन्थन से प्रभुरूप अग्नि का प्रकाश होता है। ४. **सहः महत्**=हे प्रभो! आप महान् बल हो। जिसमें भी आपका प्रकाश होता है, वह आपकी इस शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है। ५. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको **सहसः पुत्रम्**=बल का पुतला=बल का पुञ्ज **आहुः** =कहते हैं। अथवा **सहसः**=बल के द्वारा **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) पवित्र करनेवाला व रक्षा करनेवाला कहते हैं। 'सहस्' सर्वोत्तम शक्ति का वाचक है—यह आनन्दमयकोश का बल है। इसके साथ ही सब गुणों का वास है। इसके होने पर ही मनुष्य में सब उत्तमताओं का विकास होता है। इस 'सहस्' को प्राप्त करनेवाले 'अङ्गिरस्' लोग ही प्रभु का दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम अङ्गिरस् बनें। सहस् व बल का धारण करें। जितेन्द्रिय बनकर ज्ञानी बनें तभी हम हृदयस्थ प्रभु का दर्शन कर पाएँगे।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वर्षिष्ठ व ऊर्जो नपात्

सखा॑यः॒ सं वः॒ स॒म्यञ्च॒मिष॒ꣳस्तोमं॑ चा॒ग्नये॑।
वर्षि॑ष्ठाय क्षिती॒नामू॒र्जो नप्त्रे॒ सह॑स्वते॥२९॥

१. **सखायः**=ज्ञान-सम्पादन के द्वारा प्रभु के मित्र बननेवालो! **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिए **सम्यञ्चम्**=(सम् अञ्च्) उत्तम पूजन को **इषम्**=गति को **स्तोमं च**=और स्तुति-समूह को **सम्**=(सम्पादयत) सिद्ध करो। प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम देवपूजा की वृत्तिवाले हों—उत्तम गतिवाले हों, प्रभु प्रेरणा को सुनकर तदनुसार कार्य करनेवाले हों और प्रभु के गुणों का स्तवन करते हुए उन्हीं गुणों को धारण करनेवाले बनें। २. उस प्रभु के लिए हम इस पूजा, गति व स्तुति का सम्पादन करें जो **वर्षिष्ठाय**=श्रेष्ठ व वृद्धतम हैं, पुराणपुरुष हैं अथवा अतिशयेन आनन्द की वर्षा करनेवाले हैं। ३. **क्षितीनाम्**=उत्तम निवास व गतिवाले पुरुषों के (क्षि निवासगत्योः) **ऊर्जः नप्त्रे**=बल व प्राणशक्ति के नष्ट न होने देनेवाले हैं (न पतियित्रे), ४. जो प्रभु **सहस्वते**=सहस्वाले हैं। वस्तुतः सहस् के पुञ्ज हैं—सहोरूप हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के साधन 'पूजा, गति व स्तुति' हैं। वे प्रभु १. अग्नि=हमारी उन्नति के साधक है। २. वृद्धतम व सर्वाधिक आनन्द के वर्षक हैं। ३. हमारी शक्तियों को नष्ट न होने देनेवाले हैं तथा ४. सहस् के पुञ्ज हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वृषन्

सꣳस॒मिद्यु॑वसे वृष॒न्नग्ने॒ विश्वा॒न्यर्य॑ऽआ।
इ॒डस्प॒दे समि॑ध्यसे॒ स नो॒ वसू॒न्याभ॑र॥३०॥

१. हे प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **सं सं युवसे**=हम सबको उत्तमता से प्राप्त होनेवाले हो तथा हम सबको परस्पर सङ्गत करनेवाले हो। २. **वृषन्**=आप हमपर सुखों की वर्षा करते हो। ३. **अग्ने**=आप सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। ४. **अर्यः**=स्वामी व परमेश्वर होते हुए आप **विश्वानि**=सब आवश्यक वस्तुओं को **आ** (युवसे)=हमें प्राप्त कराते हो। ५. **इडः पदे**=वाणी के स्थान में **समिध्यसे**=आप समिद्ध होते हो। जितना-जितना हम अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं उतना-उतना आपके अधिकाधिक प्रकाश को देखते हैं। ६. **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **वसूनि**=उत्तम धनों—निवास के लिए आवश्यक पदार्थों को **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—वे प्रभु हमें परस्पर मिलाते हैं। हमपर सुखों की वर्षा करते हैं। हमें उन्नत करते हैं। परमेश्वर होते हुए सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। उस प्रभु का दर्शन ज्ञानवाणियों के अध्ययन से ज्ञान को बढ़ाकर होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

चित्रश्रवस्तम

त्वां चि॒त्रश्र॑वस्तम॒ हव॑न्ते वि॒क्षु ज॒न्तवः॑।
शो॒चिष्के॑शं पुरुप्रि॒याग्ने॑ ह॒व्याय॒ वोढ॑वे॥३१॥

१. हे **चित्रश्रवस्तम**=(चित्+र, श्रवः=धनम्) ज्ञानयुक्त धन के अतिशयवाले प्रभो!

विक्षु=इस संसार में प्रविष्ट होनेवाले (विश्=to enter) प्राणियों में **जन्तवः**=अपना विकास (जन् प्रादुर्भाव) करनेवाले मनुष्य **त्वां हवन्ते**=तुझे पुकारते हैं। २. हे **पुरुप्रिय** =पालन व पूरण करनेवाले तथा इस पालन व पूरण से ही प्रीणित करनेवाले प्रभो! हे **अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान ज्ञान-रश्मियोंवाले आप (प्रभु) को उपासक **हवन्ते**= पुकारते हैं। ३. **हव्याय**=हव्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए, सात्त्विक भोजन के लिए और **वोढवे**=वहन के लिए। जैसे जब बच्चा थक जाता है तो माँ उसे उठा लेती है, इसी प्रकार पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त आपसे वहन किये जाने के लिए। आप ही मेरा वहन करेंगे तभी मैं लक्ष्य-स्थान पर पहुँच पाऊँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम विकास के मार्ग पर चलें, सदा आपकी आराधना करें। आपसे ज्ञान व धन प्राप्त करके हम आगे बढ़ें। आपकी कृपा से हमें सात्त्विक अन्न प्राप्त हो और आपसे लक्ष्य स्थान पर पहुँचाये जाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऊर्जो नपात् व चेतिष्ठ

एना वोऽअग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳस्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥३२॥

१. **एना नमसा**=इस नमन के द्वारा **आहुवे**=मैं पुकारता हूँ। नम्र हुआ मैं नतमस्तक होकर उस प्रभु की प्रार्थना करता हूँ जो २. **वः अग्निम्**=तुम सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। ३. **ऊर्जो नपातम्**=शक्ति को नष्ट न होने देनेवाले हैं। ४. **प्रियम्**=प्रीणित करनेवाले हैं, जिनको पाकर जीव एक तृप्तिकर आनन्द का अनुभव करता है। ५. **चेतिष्ठम्**=अतिशयेन ज्ञान-सम्पन्न हैं और अपने उपासकों को ज्ञान देनेवाले हैं। ६. **अरतिम्**=(रतिः उपरमः तद्रहितम्—म०) सदा उद्योगयुक्त हैं 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'=जिनकी क्रिया स्वाभाविक है। ७. **स्वध्वरम्**=उत्तम यज्ञोंवाले हैं। जीवों से किये जानेवाले सब यज्ञ उस प्रभु की कृपा से ही सिद्ध होते हैं। ८. **विश्वस्य दूतम्**=सबके प्रेरक है (messenger) अथवा सबके दोषों को दूर करनेवाले तथा धर्मार्थमोक्ष को प्राप्त करानेवाले हैं। (यो दोषान् दुनोति दूरीकरोति धर्मार्थमोक्षान् प्रापयति वा—द० ६।१५।९) जो अविद्या के पार ले-जानेवाले हैं (ऋ० ३।१२।२ अविद्यायाः पारे गमयिता) अथवा सब दुःखों का निवारण करनेवाले हैं। (दूतः वारयतेः—नि० ५।१) ९. **अमृतम्**=वे प्रभु अमृत हैं। उनको पाकर मनुष्य मृत्यु से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—वे प्रभु हमें आगे ले-चलते हैं, हमें अक्षीण शक्ति बनाते हैं, प्रीति को देनेवाले हैं, सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं, सदा सहायता के लिए उद्यत हैं, हमारे सब यज्ञ उन्हीं की कृपा से पूर्ण होते हैं, सब कष्टों व अज्ञानों को दूर करनेवाले व अमर हैं। हम उन्हीं को पुकारें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

विश्व का दूत

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम्।
स योजतेऽअरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः॥३३॥

१. वे प्रभु **विश्वस्य दूतम्**=(दूतः जवतेर्वा द्रवतेर्वा—वारयतेर्वा—नि० ५।१) सम्पूर्ण

संसार को गति देनेवाले हैं, सम्पूर्ण संसार के सञ्चालक हैं, सबके कष्टों व अज्ञानों का निवारण करनेवाले हैं। **अमृतम्**=इस प्रकार अमृतत्व को देनेवाले हैं। २. वे प्रभु सचमुच ही **विश्वस्य दूतम्**=विश्व के प्रेरक हैं **अमृतम्**=अमर प्रेरक हैं। ३. वे हमारे इन शरीररूप रथों में **अरुषा**=(अकोपनौ) क्रोधशून्य, अर्थात् सरल व **विश्वभोजसा**=सबका पालन करनेवाले ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **योजते**=जोड़ते हैं। कर्मेन्द्रियाँ अरुष हैं 'ऋच्छति अध्वानम्'=ये सरलता से मार्ग पर चल रही हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक वस्तु का ज्ञान देकर पालन करनेवाली हैं। ४. **सः**=वे प्रभु **स्वाहुतः**=(शोभनप्रकारेण हुतः—उ०) उत्तमता से आत्मार्पण किया हुआ अथवा (शोभनाह्वानः—द०) उत्तमता से पुकारा हुआ **दुद्रवत्**=शीघ्रता से प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें व उसे पुकारें तो प्रभु सहायता के लिए सदा उपस्थित होते हैं। वे हमारे शरीर-रथ में शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाले व ज्ञान-प्रकाश द्वारा पालक इन्द्रियाश्वों को जोतते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्वाहुतः दुद्रवत् देवराधः

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवश्राधो जनानाम्॥३४॥

१. **सः**=वह **स्वाहुतः**=उत्तमता से समर्पण किया हुआ, अथवा उत्तमता से पुकारा हुआ प्रभु **दुद्रवत्**=शीघ्रता से प्राप्त होता है। **स्वाहुतः स दुद्रवत्**=पुकारा हुआ वह प्राप्त होता ही है। ये शब्द ठीक ही हैं कि 'knock, and it will be opened to you' खटखटाओ और यह दरवाज़ा तुम्हारे लिए खुलेगा ही। २. प्रभु वहाँ अवश्य पहुँचते हैं, जहाँ **वसूनाम्**=इस शरीररूपी देवाश्रम में उत्तमता से निवास करनेवालों का **सुब्रह्मा**=उत्तम ज्ञानियों से युक्त अथवा (शोभनं ब्रह्म यस्मिन्) उत्तम ज्ञान से युक्त **सुशमी**=(शमी=कर्म) उत्तम कर्मोंवाला **यज्ञः**=यज्ञ प्रवृत्त होता है, अर्थात् जहाँ एक व्यक्ति युक्ताहार-विहार के द्वारा शरीर को नीरोग बनाता है, मस्तिष्क को ज्ञान-परिपूर्ण करता है तथा हाथों द्वारा सदा उत्तम कर्मों में लगा रहकर जीवन को एक यज्ञ ही बना देता है, वहाँ प्रभु अवश्य उपस्थित होते हैं। ३. फिर प्रभु वहाँ अवश्य उपस्थित होते हैं जहाँ कि **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवालों का **देवं राधः**=दिव्य व्यवहार से सिद्ध किया हुआ धन होता है। आसुर लोग ही अन्याय से अर्थसञ्चय के लिए यत्नशील होते हैं। दैवी प्रवृत्तिवाले लोग देवयान से, देवोचित व्यवहारों से ही **राधः**=कार्य-साधक धन जुटाते हैं। जहाँ धन न्याय-मार्ग से ही प्राप्त करने की वृत्ति होती है, वहीं प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु को वही पाता है जो १. स्वस्थ व ज्ञानी बनकर क्रियाशील होता है और इस प्रकार जीवन को एक यज्ञ बना देता है। तथा २. जो अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ देवोचित न्यायमार्ग से व्यवहार-साधक धन कमाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

गोमत वाज

अग्ने वाजस्य गोमतऽईशानः सहसो यहो।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः॥३५॥

१. हे **अग्ने**=सर्वोन्नति साधक प्रभो! हे **सहसः यहो**=बल के पुत्र, शक्ति के पुञ्ज प्रभो! आप **गोमतः**=उत्तम गौवोंवाले, उत्तम गौवें के द्वारा गोदुग्ध युक्त **वाजस्य**=शक्तिप्रद अन्न के **ईशानः**=ईश हैं—स्वामी हैं। २. अतः आप कृपा करके **अस्मे धेहि**=हमारे लिए इस गोदुग्ध युक्त अन्न को दीजिए। गो-दुग्ध से हमारे अन्दर सात्त्विकता की वृद्धि हो तो शक्तिप्रद अन्न से हमारे शरीर पुष्ट हों। इस गोदुग्ध युक्त पौष्टिक अन्न को प्राप्त करके हमारे मस्तिष्क ज्ञान से इस प्रकार चमकें जैसे अग्नि चमकती है, और हमारे शरीर सबल होकर हमें भी सहसस्पुत्र=शक्ति-पुञ्ज बनाएँ। ३. हे **जातवेदः**=सम्पूर्ण ज्ञान के उत्पत्ति-स्थल प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए आप **महि श्रवः**=महनीय अन्न प्राप्त कराइए (श्रवः=अन्ननाम्—नि० १०।३) उसके सेवन के द्वारा हमारे जीवन को प्रशंसनीय बनाइए (श्रवः प्रशंसा—नि० ४।२४) और आपकी कृपा से हम महनीय धन को (श्रवः=धनम्—नि० २।१०) प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हम गोदुग्ध का सेवन करें, शक्तिप्रद अन्नों का प्रयोग करें। इस संसार में उत्तम अन्न के द्वारा प्रशंसित जीवनवाले हों तथा प्रशस्त मार्ग से ही धन कमाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

धन+ज्ञान

सऽइधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा। रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥३६॥

१. **सः**=वह प्रभु **इधानः**=स्वभावतः ही ज्ञान से दीप्यमान हैं। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। प्रभु स्वयं ज्ञान से दीप्त हैं। जीव को ज्ञान से दीप्त करते हैं। २. **वसुः**=ज्ञान देकर वे हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं। ३. **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देते हैं। ४. विद्योपदेश देकर ही वे **अग्निः**=हमारी सब प्रकार की उन्नति को सिद्ध करते हैं, अग्रेणी होते हैं। ५. वस्तुतः ये प्रभु ही **गिरा**=इन सब वेदवाणियों से **ईडेन्यः**=स्तुति के योग्य हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** यह उपनिषद् वाक्य यही तो कह रहा है कि सारे वेद उस प्रभु का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**= सारी ऋचाएँ उस परम अक्षर में ही निषण्ण होती हैं। ६. हे **पुर्वणीक**=अनन्त सैन्य बलवाले प्रभो! अथवा पालक व पूरक बलवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रेवत्**= धनवाले होकर **दीदिहि**=दीप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से मैं धन प्राप्त करूँ, परन्तु मेरा वह धन ज्ञान की दीप्तिवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें धन दीजिए। धन के साथ प्रकाश भी प्राप्त कराइए।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

तिग्म-जम्भ—रक्षो-दहन

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः। स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥३७॥

१. हे **तिग्मजम्भ**=(तिग्म—वज्र) वज्र के समान दंष्ट्रावाले अथवा तीक्ष्ण दंष्ट्रावाले! **राजन्**=राष्ट्र के जीवन को व्यवस्थित करनेवाले राजन्! **अग्ने**=राष्ट्र को उन्नत करनेवाले अग्रेणी! **सः**=वे आप **त्मना**=स्वयं **क्षपः**=रात्रि में (नि० १।७) **उत**=और **वस्तोः**=दिन में (नि० १।९) **उत**=और **उषसः**=उषःकालों में **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले लोगों को **प्रतिदह**=एक-एक को भस्म कर दीजिए। २. यहाँ 'तिग्मजम्भ' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि राजा को राक्षसी वृत्तिवालों के लिए तीव्र दण्डवाला होना है। ३. राजा ने उचित दण्ड-व्यवस्था के द्वारा प्रजा के जीवन को व्यवस्थित (regulated) करना है।

तभी तो वह 'राजा' कहलाने के योग्य होगा। ४. प्रजा के व्यवस्थित जीवन के द्वारा राष्ट्र की उन्नति करनेवाला, राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला यह राजा 'अग्नि' है। ५. यह सब कार्य उसे स्वयं करना है। ऐसा संकेत 'त्मना' शब्द कर रहा है। कर्मचारी वर्ग पर कार्यभार डालकर वह स्वयं आमोद-प्रमोद में ही न फँस जाए। ६. राजा ने अपने इस कार्य में क्या दिन क्या रात व क्या उषःकाल सदा लगे रहना है। उसे तो 'जागृवि' बनना है। सदा जागते रहकर प्रजा का हित-साधन करना है। ७. ऐसी सब व्यवस्था होने पर ही राष्ट्र में राक्षसी वृत्ति के लोग नहीं पनप पाते और राष्ट्र दिन-ब-दिन उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—राजा यथार्हदण्ड होकर राष्ट्र में राक्षसी वृत्ति का अन्त करे। इस सुरक्षित राष्ट्र में सब व्यक्ति उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

समर्पण-दान-यज्ञ-स्तवन

भद्रो नोऽअग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रोऽअध्वरः।
भद्राऽउत प्रशस्तयः॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार उत्तमता से शासित और अतएव शान्त राज्य में सब आश्रमवासी अपने-अपने कार्य में दत्तचित्त हों, और स्वकर्त्तव्य पालन के द्वारा कल्याण व सुख का सम्पादन करें। २. ब्रह्मचारियों की प्रार्थना यह हो कि **अग्निः**=मातारूपी दक्षिणाग्नि, पितारूप गार्हपत्याग्नि, आचार्यरूप आहवनीयाग्नि **आहुतः**=आहुत हुआ-हुआ **नः**=हमारे लिए **भद्रः**=कल्याण व सुख देनेवाला हो। हम माता-पिता व आचार्य के प्रति समर्पण कर अपना कल्याण सिद्ध करें। हम इन अग्नियों के पूर्ण अनुकूल होंगे तो अपना कल्याण अवश्य सिद्ध कर पाएँगे। माता हमें चरित्रवान् बनाएगी तो पिता आचारवान् तथा आचार्य ज्ञानवान्। इस प्रकार से तीनों हमारे जीवन को भद्र बनाएँगे। ३. अब गृहस्थ प्रार्थना करता है कि हे **सुभग**=उत्तम ऐश्वर्यवाले प्रभो! इस गृहस्थ में **रातिः**=दान की वृत्ति **भद्रा**=हमारा कल्याण करनेवाली हो। हम धन को अपना समझें ही नहीं। वास्तव में तो यह धन है ही आपका। इस बात का स्मरण करते हुए हमें दान में किसी प्रकार का संकोच न हो। हम अपने को आपके इस धन का ट्रस्टी=धरोहर-रक्षक ही समझें और सदा दान देते हुए विषय-वासनाओं से बचकर अपने कल्याण को सिद्ध करें ४. अब तृतीयाश्रम में वनस्थ होकर हम चाहते हैं कि **अध्वरः**=हिंसा के लवलेश से शून्य यह यज्ञ **भद्रः**=हमारा कल्याण करे। वनस्थ होकर अन्य सब सम्भारों को छोड़कर हम 'अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्'=अग्निहोत्र व अग्निहोत्र के अन्य साधनभूत पात्रों को लेकर ही वनस्थ हों। वानप्रस्थ में भी यज्ञों को विधिवत् करते रहें। इन यज्ञों से अपने जीवन को सदा पवित्र और कल्याणमय बनाये रक्खें। ५. **उत**=और अब चतुर्थाश्रम में **प्रशस्तयः**=हमारे से दिन-रात की गई प्रभु की प्रशस्तियाँ **भद्रः**=हमारा कल्याण करें। हम श्वास-प्रश्वास के साथ प्रभु के गुणों का गान करें। उन गुणों के अनुरूप अपने जीवन को बनाने का निश्चय करके हम अपने कल्याण-सम्पादन में समर्थ हों।

भावार्थ—ब्रह्मचारी का मूलमन्त्र 'माता-पिता व आचार्य के प्रति अर्पण' हो। गृहस्थ का दान, वनस्थ का यज्ञ तथा संन्यास का प्रभु-स्तवन ही मुख्य ध्येय हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

वृत्र-तूर्य

भद्राऽउत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये। येना समत्सु सासहः॥३९॥

१. **भद्राः उत प्रशस्तयः**=उस प्रभु की प्रशस्तियाँ तो निश्चय से हमारा कल्याण करें ही। २. हे उपासक! तू प्रभु-शक्तियों से **भद्रम्**=उत्तम बने हुए **मनः**=अपने मन को **वृत्रतूर्ये**=पाप के नाश के लिए अथवा बुरी वृत्तियों से संग्राम के लिए **कृणुष्व**=कर। अपने मन में दृढ़ निश्चय कर कि मुझे इस अध्यात्मसंग्राम में काम, क्रोध, लोभ का—ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का संहार (तूर्य—वध) करना है। ३. **येन**=जिस दृढ़ निश्चय के होने से ही **समत्सु**=संग्रामों में **सासहः**=तू शत्रुओं का पराभव करता है। ढिलमिल विचार हमें किसी भी कार्य में सफल नहीं बनाता। दृढ़ निश्चय ही—संकल्प ही वह शक्ति देता है जिससे शक्तिशाली बनकर हम शत्रुओं का शातन कर पाते हैं। ४. एवं, कामादि के पराजय के लिए दो बातें बड़ी आवश्यक हैं। (क) स्तवन तथा (ख) मन में इनके नाश के लिए दृढ़ संकल्प।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करें। मन को उत्तम बनाएँ। दृढ़ निश्चय करके कामादि से संग्राम में उनका पराजय करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

विजय

येना समत्सु सासहोऽव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम्।
वनेमा तेऽअभिष्टिभिः॥४०॥

१. हे प्रभो! हमें गत मन्त्र में वर्णित वह 'भद्र मन' दीजिए **येन**=जिससे **समत्सु**=संग्रामों में **सासहः**=शत्रुओं का पराभव कर सकें। २. आप कृपा करके **भूरि शर्धताम्**=नाना प्रकार से प्रभूत बल प्राप्त कराते हुए (अभिबलायमानानाम्—उ०) इन काम, क्रोध व लोभादि के **स्थिरा**=स्थिर धनुषों को **अवतनुहि**=ज्या-(डोरी)-रहित कर दीजिए, अर्थात् इनकी शक्ति को क्षीण कर दीजिए। इस पञ्चबाण (काम) के बाण मुझपर चल ही न सकें, इस प्रकार इसके धनुष को ढीला कर दीजिए। ३. हे प्रभो! **ते अभिष्टिभिः**=तेरे द्वारा इन कामादि पर किये गये आक्रमणों से **वनेम**=हम विजयी बनें (वन्=win) अथवा **अभिष्टिभिः**=अभीष्ट यागों के द्वारा **ते वनेम**=तेरा सम्भजन करें। यज्ञों के द्वारा हम आपका उपासन करें और 'त्वया स्विद् युजा वयम्'=आपको अपना साथी पाकर हम इन क्रोधादि का पराजय करने में समर्थ हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से अत्यन्त प्रबल भी इन काम, क्रोध आदि को हम जीतनेवाले बनें। इन अभिबलायमान कामादि के अस्त्र शिथिल हो जाएँ और हम इन्हें पराजित कर सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अग्निः अस्तम्

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्तऽआशवोऽस्तं नित्यासो वाजिनऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर॥४१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कामादि का पराजय करके **यः**=जो **वसुः**=शरीर में अपने

निवास को उत्तम बनाता है, अर्थात् शरीर को व्याधियों से शून्य और मन को आधियों से रहित करता है **तम्**=उसी वसु को **अग्निं मन्ये**=मैं अग्नि मानता हूँ, उसी को उन्नतिशील कहता हूँ। प्रभु की दृष्टि में अग्नि वही है जो आधि-व्याधिशून्य जीवनवाला है। २. ये 'अग्नि' जिन घरों में उत्पन्न होते हैं, उन घरों का लक्षण करते हुए कहते हैं कि **अस्तम्**=मैं घर उसी को कहता हूँ **यम्**=जिसकी ओर **धेनवः**=गौवें **यन्ति**=आती हैं। गृहसूक्त के शब्द स्मरणीय हैं कि 'आ धनेवः सायमास्पन्दमानाः' घरों में सायंकाल उछलती-कूदती गौवें आएँ। ३. **अस्तम्**=घर उसे मानता हूँ जिसमें **आशवः**=शीघ्रता से मार्गों के व्यापनेवाले **अर्वन्तः**=घोड़े **यन्ति**=जाते हैं। घरों में गौवे हों, घोड़े हों। गौवें सात्त्विकता की वृद्धि का कारण बनती हैं तो घोड़े शक्ति की वृद्धि में साधन बनते हैं। ४. **अस्तम्**=घर वह है जिसमें **नित्यासः वाजिनः**=स्थिर शक्ति देनेवाले अन्न प्राप्त होते हैं। (नि=in, त्य=होनेवाले, अर्थात् स्थिर पौष्टिक, वाज=शक्ति) ५. हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे वे स्तोता मन्त्र-वर्णित घर को ही बनानेवाले हों और उन घरों में 'अग्नि' बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—घर वही है, जिसमें १. दुधारू गौवें आती हैं। २. तीव्र गतिवाले घोड़े आते हैं, और ३. सदा यज्ञ की वृत्तिवाले लोग आते हैं। इन घरों में रहनेवाला **अग्नि**=उन्नतिशील पुरुष वही है जिसने अपने को पूर्ण स्वस्थ बनाकर उत्तमता से निवास किया है।

सूचना—'नित्यासः वाजिनः' का अर्थ यह भी हो सकता है कि सदा यज्ञिय कर्मों के करनेवाले (वाज =A sacrificial act)।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीपंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अग्नि

सोऽअग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सꣳसुजातासः सूरयऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर॥४२॥

१. **सः अग्निः**=उन्नतिशील पुरुष वह है **यः**=जो **वसुः**=उत्तम निवासवाला है। २. **गृणे** (गृणाति)=जो नित्य प्रभु का स्तवन करता है। ३. **यम्**=जिसको **धेनवः**=दुधारू गौवें **समायन्ति**=सम्यक्तया प्राप्त होती हैं। ४. **रघुद्रुवः**=(लघुद्रवाणाः) शीघ्र गतिवाले **अर्वन्तः**=घोड़े **समायन्ति**=प्राप्त होते हैं, और जिसे ५. **सुजातासः**=शोभन जन्मवाले अथवा उत्तम विकासवाले **सूरयः**=विद्वान् लोग **समायन्ति**=प्राप्त होते हैं। ६. हे प्रभो! आप इन अग्नि बनानेवाले **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे उस प्रेरणा के अनुसार चलते हुए ये सचमुच अग्नि बन सकें।

भावार्थ—उन्नतिशील व्यक्ति के लक्षण ये हैं। १. स्वस्थ बनता है, शरीर में उत्तम निवासवाला होता है। २. गौवों के दुग्ध का प्रयोग करता है। ३. विकासशील विद्वानों का सङ्ग करता है। ४. प्रभु-स्तवन के द्वारा प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अग्निहोत्र

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीषऽआसनि।
उतो नऽउत्पुपूर्याऽउक्थेषु शवसस्पतऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर॥४३॥

१. हे **सुश्चन्द्र**=(शोभनं चन्दति आह्लादते आह्लादयति वा) उत्तम आनन्द को प्राप्त करने व करानेवाले स्तोतः! तू **उभे**=दोनों सन्ध्याकालों में **सर्पिषः दर्वी**=घृत की भरी कड़छियों को **आसनि**=अग्निकुण्ड में—प्रज्वलित अग्नि के मुख में **श्रीणीषे**=(श्रयसि आश्लेषसि—उ०) आश्रित करता है, अर्थात् घृत से अग्निहोत्र करता है। २. इस प्रकार प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए तू यही प्रार्थना करता है कि हे अग्ने! **उत उ**=और अब तू भी **नः**=हमें **उत्पुपूर्याः**=(उत्कर्षेण अन्नादिभिः पूरय—म०) उत्कृष्ट अन्नादि से पूर्ण करनेवाला हो। 'देहि मे ददामि ते'—'तू मुझे दे तो मैं भी तुझे देता हूँ,' इस अपनी प्रतिज्ञा को तू अब पूरा कर। वस्तुतः अग्निहोत्र में डाला हुआ घृतादि पदार्थ नष्ट न होकर सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर सारे वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है। वह वृष्टि-बिन्दुओं का केन्द्र बनकर इस पृथिवी पर आता है और अन्न के एक-एक कण को पौष्टिक बना देता हे। ३. **उक्थेषु**=स्तुतियों के होने पर स्तोताओं में **शवसस्पते**=बल की रक्षा करनेवाले प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—नियम से अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति सदा आनन्दमय जीवनवाला व सौमनस्यवाला होता है। वह अग्निहोत्र से अपने अन्न-भण्डारों को पूर्ण करता है और प्रभु-स्तवन से सशक्त बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्तुति+यज्ञ—शक्ति+उत्तम-संकल्प

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रꣳहृदिस्पृशम्।
ऋध्यामा तऽओहैः॥४४॥

१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **ते ओहैः**=(तव प्रापणैः) आपको प्राप्त करानेवाले **स्तोमैः**=स्तुतिसमूहों के साथ **अद्य**=आज हम **तम्**=उस—गत मन्त्र में वर्णित यज्ञ को **ऋध्याम्**=समृद्ध करें। २. उसी प्रकार समृद्ध करें **न**=जैसे (न=इव) **अश्वम्**=क्रियाओं में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों को। 'इन्द्रियाणि हयानाहुः'=हमारे इन्द्रियरूप अश्व खूब शक्तिशाली हों। ३. हम यज्ञ को उसी प्रकार समृद्ध करें **न**=जैसे **हृदिस्पृशम्**=(हृदिस्पृशति इति) हृदय में जँच जानेवाले **भद्रम्**=शुभ **क्रतुम्**=संकल्प को। हमारे संकल्प शुभ तो हों ही, ऐसे शुभ हों कि सुननेवाले को भी जँचें, उसके हृदय पर उनका उत्तम प्रभाव हो। ४. एवं, मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट हैं कि (क) हम स्तुति करें, वह स्तुति जो हमारे जीवनों में एक विशिष्ट परिवर्तन लाकर हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली हो। (ख) इन स्तुतियों के साथ हम पिछले मन्त्र में वर्णित यज्ञ को सिद्ध करनेवाले हों। (ग) इन स्तुतियों व यज्ञों के द्वारा हम अपनी इन्द्रियों को उत्तम शक्ति-सम्पन्न बनाएँ और (घ) साथ ही प्रभु-स्तवन व यज्ञों के कारण हमारे संकल्प भी सदा उत्तम हों, सुननेवाला भी उनकी प्रशंसा करे।

भावार्थ—हम स्तुति करें, यज्ञमय जीवनवाले हों, हमारी इन्द्रियाँ सशक्त हों, संकल्प उत्तम हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

संकल्प+बल+यज्ञ

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ॥४५॥

१. हे **अग्ने**=हमारे जीवन के अग्रेणी प्रभो! आप **अद्य**=अब हमारे स्तवन के बाद **हि**=निश्चय से **भद्रस्य क्रतोः**=शुभ संकल्प, प्रज्ञान व यज्ञरूप कर्म के **रथीः**=सारथि के समान निर्वाहक होते हो। आप हमें शुभ संकल्प, प्रज्ञान व कर्म प्राप्त कराते हो। (क्रतु=संकल्प, प्रज्ञान, कर्म—नि० ३।५)। २. आप **दक्षस्य**=उस बल के (नि० २।५) भी प्राप्त करानेवाले हो जो बल **साधोः**=(साध्नोति) लोकरक्षा व परहित को सिद्ध करनेवाला होता है, आप हमें वह शक्ति देते हैं जो सदा उत्तम कार्यों की साधिका होती है और लोकरक्षण में विनियुक्त होती है। ३. आप उत्तम संकल्प व साधक शक्ति प्राप्त कराके **बृहतः**=सदा वृद्धि के कारणभूत **ऋतस्य**=यज्ञ के (नि० ८।२) और वस्तुतः सब ठीक कर्मों के **रथीः**=निर्वाहक **बभूथ**=होते हो।

भावार्थ—प्रभु हमें १. भद्र क्रतु=उत्तम संकल्पवाला बनाते हैं। २. कार्यसाधक शक्ति प्राप्त कराते हैं। ३. संकल्प और शक्ति प्रदान कर हमारी वृद्धि के कारणभूत यज्ञों के निर्वाहक होते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए पाँच बातें

एभिर्नोऽअर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः।
अग्ने विश्वेभिः सुमनाऽअनीकैः॥४६॥

१. प्रभु कहते हैं कि **एभिः नः अर्कैः**=(अर्को मन्त्रः, अर्चन्त्येनन)=इन हमारे मन्त्रों के द्वारा—सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान के रूप में दिये गये इन मन्त्रों से तू **नः भव**=हमारा बन। प्रभुभक्त की सर्वोत्तम पहचान यही होनी चाहिए कि वह प्रभु की दी गई वाणी को पढ़ता हो। २. इस वाणी से ज्ञान प्राप्त करके तू **अर्वाङ्**=नीचा—नम्र बन। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति' ज्ञान से मनुष्य नम्र बनता ही है। 'विद्या ददाति विनयम्'=विद्या विनय देती है। 'अहंभावोदयाभावो ज्ञानस्य परमावधिः' ज्ञान की चरम सीमा अहंकार का नितान्त अभाव ही है। मूर्ख ही सर्वज्ञता का गर्व करता है। ज्ञानी अपने ज्ञान की सीमा व अल्पता को समझता हुआ गर्वित नहीं होता। ३. **स्वः न ज्योतिः**=(स्वः आदित्यः—म०) इस नम्रता के परिणामस्वरूप सूर्य के समान देदीप्यमान तेरा ज्ञान हो, अथवा तू स्वर्ण के समान चमकते हुए ज्ञानवाला हो। ४. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विश्वेभिः अनीकैः**=सम्पूर्ण तेजस्विताओं के साथ (अनीक=splendour, brilliance तेजस्) तू **सुमनाः**=उत्तम मनवाला हो, अर्थात् स्वस्थ तेजोमय शरीर में तू उत्तम स्वस्थ मनवाला बन।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए मन्त्र में पाँच बातों का संकेत है। १. वेद-मन्त्राध्ययन, २. नम्रता, ३. सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त होना औरों को भी अपने जीवन से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराना, ४. तेजस्विता और ५. सौमनस्य।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

होता 'अग्नि' का लक्षण

अग्निꣳहोतारं मन्ये दास्वन्तं वसुꣳसूनुꣳसहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
यऽऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा। घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः॥४७॥

१. **अग्निं मन्ये**=मैं उसको अग्नि=उन्नतिशील—अग्रेणी मानता हूँ जो **होतारम्**=(हु दानादनयोः) सदा दानपूर्वक अदन करता है, यज्ञशेष का ही सेवन करता है। **'केवलाघो भवति केवलादी'** इस बात को भूल नहीं जाता। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इस आदेश का पालन करता है। २. **दास्वन्तम्**=दानवन्तम्=जिसके जीवन में दान की वृत्ति कभी उच्छिन्न नहीं होती। ३. **वसु**=(वसति, वासयति) जो स्वयं उत्तम निवासवाला होता हुआ औरों के भी उत्तम निवास का कारण बनता है। ४. विलासवृत्ति से बचे रहने के कारण **सहसः सूनुम्**=जो बल का पुत्र—शक्ति का पुञ्ज बनता है। ५. **जातवेदसम्**=जीवन-यात्रा के लिए (जातं वेदो यस्मात्, वेदा धनम्) उचित धन को उत्पन्न करनेवाला है। ६. धनोत्पादन के साथ ही **विप्रं न**=यह विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ब्राह्मण के समान है और इसने **जातवेदसम्**=अपने में ज्ञान का विकास किया है। और ७. **यः**=ज्ञान से दीप्त जो **देवः**=दिव्य गुणोंवाला अग्निपुरुष **ऊर्ध्वया**=उत्कृष्ट, अर्थात् सात्त्विक **देवाच्या**=देवों की ओर ले-जानेवाले (देवान् अञ्चति) **कृपा**=सामर्थ्य से (कृपू सामर्थ्ये) **स्वध्वरः**=सदा उत्तम अहिंसात्मक कर्मों को करनेवाला होता है। दिव्य गुणोंवाला तथा शक्ति-सम्पन्न बनकर यह शक्ति का प्रयोग हिंसा में नहीं करता। इसकी शक्ति इसे देव बनाती है नकि असुर। ८. **आजुह्वानस्य**=(आहूयमानस्य—उ०) शरीर की वैश्वानर अग्नि में आहुति दिये जाते हुए, दानपूर्वक अदन किये जाते हुए, **सर्पिषः**=घृत की **शोचिषा**=दीप्ति से, अर्थात् 'घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व' इस वेदोपदेश के अनुसार घृत के उचित प्रयोग से शरीर को कान्ति-सम्पन्न बनाने से **घृतस्य**=मन की मलिनताओं के विनाश (क्षरण) तथा ज्ञान की दीप्ति की (घृ क्षरणदीप्तयोः) **विभ्राष्टिम् अनुवष्टि**=विशिष्ट चमक के बाद यह अग्नि प्रभु को प्राप्त करने की कामना करता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए निम्न बातें चाहिएँ—१. होता व दानशील बनना। २. उत्तम निवासवाला व शक्ति का पुञ्ज बनना। ३. उचित धनार्जन व खूब ज्ञानार्जन करना। ४. शक्तिशाली व देव बनकर अहिंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त होना। ५. घृत प्रयोग से शरीर को स्वस्थ बनाना और ज्ञान-दीप्ति से प्रभु-दर्शन की कामना करना।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

अग्नि की अग्नि से प्रार्थना, He knocks

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳरयिन्दाः।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥४८॥

१. गत मन्त्र का अग्नि=प्रगतिशील जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **त्वं नः अन्तमः**=आप ही हमारे अन्तिकतम मित्र हो। सभी साथ छोड़ जाएँ तो भी आप सदा साथ होते हो। मैं आपका मित्र बनूँ या न बनूँ आप तो मेरे मित्र हो ही। २. **उत**=और **त्राता**=आप ही रक्षक हो। उचित अन्नादि प्राप्त कराके आप ही मेरा त्राण करते हो। ३. **शिवः**=आप सदा मेरा कल्याण करते हो। ४. **वरूथ्यः**=आप मेरे उत्तम आच्छादन (cover) **भव**=हो। 'अमृतोपस्तरणं, अमृतापिधानम्'=आप अमृत उपस्तरण व अपिधान हो। आपको अपना आवरण पाकर ही तो मैं 'सत्य, यश व श्री' को प्राप्त किया करता हूँ। ५. **वसुः**=इस प्रकार आप मेरे निवास को उत्तम बनाते हो। वस्तुतः मैं आपमें ही निवास पाता हूँ। ६. **अग्निः**=आप सब प्रकार से मुझे आगे ले-चलते हो। ७. आप **वसुश्रवाः**=निवास के

लिए आवश्यक धनों के देनेवाले हो। (श्रवः=धन–नि० २।२०) आप ही निवास के लिए आवश्यक अन्नों को देते हो (श्रवः=अन्न–नि० १०।३) ८. **अच्छ**=आप सदा मेरी ओर आते हो, आते ही नहीं **नक्षि**=(knock at) मेरे द्वार को खटखटाते भी हो, परन्तु मैं अभागा उस ब्राह्ममुहूर्त में सोया ही रह जाता हूँ और आपके लिए द्वार को खोलता नहीं। बाइबल तो कहती है कि 'knock and it will be opened to you' पर वेद कहता है कि 'He knocks, be wise to open it.' परमात्मा द्वार खटखटाता है, ज़रा जाग और खोल। ९. वे परमात्मा **द्युमत्तमं रयिन्दाः**=अधिक-से-अधिक ज्योतिर्मय धन देंगे। धन देंगे, साथ ही वे ज्ञान भी प्राप्त कराएँगे। १०. हे प्रभो! **तम्**=उस **त्वा**=आपको जो आप **शोचिष्ठ**=अतिशयेन तेजस्वी हैं, **दीदिवः**=(ये दीदयन्ति ते दीदयाः प्रकाशास्ते बहवो विद्यन्ते यस्मिन्–द०)=अतिशयेन ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, उन आपको **नूनम्**=निश्चय से **सखिभ्यः**=सब मित्रों के लिए नकि केवल अपने **सुम्नाय**=सुख के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। सुख की प्रार्थना केवल अपने लिए नहीं करनी, घर में रहनेवाले पत्नी, पुत्री, भाई आदि सबके लिए यह प्रार्थना करनी है।

भावार्थ–वे प्रभु हमारे अत्यन्त समीप हैं। वे हमारी रक्षा करते हैं, हमारे घरों पर आते हैं और यदि हम द्वार खोलें तो ज्ञानयुक्त धन देते हैं।

ऋषिः–परमेष्ठी। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

तप

येनऽऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धानाऽअग्निꣳस्वराभरन्तः।
तस्मिन्नहं निदधे नाकेऽअग्निं यमाहुर्मनव स्तीर्णबर्हिषम्॥४९॥

१. **येन**=जिस **तपसा**=धर्मानुष्ठान से (द०) या चित्त की एकाग्रता से (मनसश्चेन्द्रियाणां च एकाग्र्यं परमं तपः–म०) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **सत्रम्**=(सत्रा सत्यं विद्यते यस्मिन् विज्ञाने–द०) सत्य ज्ञान को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। २. और जिस तप से **अग्निं इन्धानाः**=प्रतिदिन अग्निकुण्ड में अग्नि का समिन्धन करते हैं। ३. जिस तप से **स्वः आभरन्तः**=स्वर्गलोक को स्वीकार करनेवाले होते हैं। ४. **तस्मिन्**=उस तप के होने पर **नाके**=मोक्षसुख के निमित्त मैं **अग्निम्**=उस–सब साधकों की उन्नति के साधक प्रभु को **निदधे**=स्थापित करता हूँ। उस प्रभु को स्थापित करता हूँ **यम्**=जिसको **मनवः**=ज्ञानी लोग **स्तीर्णबर्हिषम्**=आच्छादित किया है हृदयान्तरिक्ष को जिसने, ऐसा **आहुः**=कहते हैं। (तस्मिन् तपसि सति स्वर्गलोकनिमित्तं अग्निमहं स्थापयामि–म०) ५. 'प्रभु स्तीर्णबर्हिषम्' हैं जब हमारा हृदय उस प्रभु से आच्छादित होता है तब इस हृदय में 'सत्य, यश व श्री' का ही निवास होता है, इसमें आसुर भावनाएँ प्रवेश नहीं कर पातीं। 'अमृतोपस्तरणम्–अमृतापिधानम्' के बाद 'सत्य, यशः, श्रीः' आते हैं। उस अमृत प्रभु से आच्छादित–पूर्ण रूप से सुरक्षित हृदय में अशुभ भावनाएँ आ ही कैसे सकती हैं? ६. इस प्रभु की प्राप्ति उस तप के द्वारा ही होती है जिस तप से ऋषि सत्यज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिस तप से नियमित रूप से अग्निहोत्र होता है और जिस तप से सुख का आभरण होता है।

भावार्थ–तप से ज्ञान, यज्ञ व सुख की प्राप्ति होती है। यही तप परमात्मा-प्राप्ति का साधन बनता है, उस परमात्मा की प्राप्ति का जो हृदय को आच्छादित करके आसुर वृत्तियों से बचाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु चरणों में (सब मिलकर)

तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठेऽअधि रोचने दिवः॥५०॥

१. **देवाः**=देव बनकर, अर्थात् संसार को क्रीड़ा-स्थल समझते हुए, कामादि को जीतने की कामना करते हुए, संसार से न भागकर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए, ज्ञान से चमकते हुए, प्रभु का स्तवन करते हुए, सदा प्रसन्न रहते हुए, एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मस्त बने हुए, ऊँचे-से-ऊँचे स्वप्न लेनेवाले बनकर, उन स्वप्नों को क्रियान्वित करने की इच्छावाले और सतत गतिशील हम २. **पत्नीभिः**=पत्नियों **पुत्रैः भ्रातृभिः**=पुत्रों व भाइयों के साथ तथा **हिरण्यैः**=अपने धनों के साथ **तम्**=उस प्रभु के **अनुगच्छेम**=पीछे जाएँ, उसके अनुयायी बनें। सब मिलकर उस प्रभु के चरणों में उपस्थित हों और अपने धनों को उसके चरणों में अर्पित करें। ३. यहाँ 'भ्रातृभिः तथा पत्नीभिः' शब्द सम्मिलित परिवार (joint family) का संकेत करता है। अलग-अलग भी रहते हों तो समीप रहने से प्रार्थना के समय हम एकचित हो सकते हैं। 'हिरण्यैः' शब्द की भावना स्पष्ट है कि हम अर्जित धनों को 'अपना' न समझ 'प्रभु का दिया हुआ' ही समझें। वस्तुतः प्रभु ही हमारे लिए धनों का विजय करते हैं। ४. इस प्रकार (क) देव बनकर (ख) सम्मिलित प्रभु-उपासना से और (ग) धनों को उस प्रभु का ही दिया हुआ समझने से हम **नाकं**=मोक्षलोक का, दुःख के लेश से भी रहित सुखमय स्थिति का **गृभ्णानाः**=ग्रहण करनेवाले हों। ५. जो सुखमय स्थिति **सुकृतस्य लोके**=पुण्यकर्मों से अर्जित लोक में होती है, अर्थात् जिसकी प्राप्ति पुण्यकर्मों से होती है। **तृतीये पृष्ठे**=जो सुखमय स्थिति इस पृथिवी-पृष्ठ व अन्तरिक्ष-पृष्ठ से ऊपर उठकर तृतीय पृष्ठ में है। **दिवः अधिरोचने**=जो सुखमय स्थिति आधिक्येन दीप्यमान द्युलोक के पृष्ठ पर है। ६. इस सुखमयलोक की कामना ही **'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'**—इस मन्त्र में इस प्रकार की गई है कि मैं पृथिवी के पृष्ठ से अन्तरिक्ष में आरूढ़ होऊँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में आरूढ़ होऊँ और सुखमयलोक के पृष्ठभूत इस द्युलोक से भी ऊपर उठकर मैं स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करूँ। ७. पृथिवीलोक का विजय पहला क़दम है, इसके लिए साधन विज्ञान व मधुर भाषण हैं। अन्तरिक्षलोक का विजय दूसरा क़दम है, इसके विजय के लिए साधन यज्ञात्मक कर्म हैं। द्युलोक का विजय तीसरा क़दम है, इस विजय के लिए मुख्य साधन उपासना है। एवं, यह सुखमयलोक क्रमशः 'विज्ञान, मधुर-भाषण, यज्ञ व उपासनादि' उत्तम सुकृत कर्मों से ही प्राप्य है। इस सुख में भी आसक्ति न होने पर चौथा क़दम रक्खा जाता है, हम चतुष्पात् बनते हैं (सोऽयमात्मा चतुष्पात्) और प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—घर के सब व्यक्ति मिलकर प्रभु की उपासना करें। अपने धनों को प्रभु-चरणों में अर्पित करें और सुकृतों के द्वारा देदीप्यमान सुखमय स्थिति का लाभ करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सत्पतिः, वाचः मध्यम्

आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः॥५१॥

१. **अयं अग्निः**=यह प्रगतिशील विद्वान् (द०) **वाचः मध्यम् अरुहत्**=वाणी के मध्य में अपने आसन पर आरोहण करता है, अर्थात् अपने स्वाध्याय (Study) के कमरे में इसके चारों ओर वाङ्मय-ही-वाङ्मय होता है, बीच में यह बैठा होता है। यह ज्ञान का ही केन्द्र बनने का प्रयत्न करता है, ज्ञान में ही विचरण करता है। २. परन्तु **भुरण्युः**=यह भरणशील भी बनता है। अपने ज्ञान के रसास्वाद में यह इतना आसक्त नहीं हो जाता कि लोकहित करना ही भूल जाए। ३. **सत्पतिः**=अपने जीवन में 'सत्' की रक्षा करता है। यह 'उत्तम कर्मों को', 'उत्तम भावना' से तथा 'उत्तम प्रकार' से करनेवाला बनता है। ४. **चेकितानः**=यह सदा चेतनायुक्त होता है, संसार में समझदारी से चलता है। ५. **पृष्ठे पृथिव्याः निहितः**=यह पृथिवी के पृष्ठ पर स्थित होता है। पृथिवी=शरीरम्। शरीररूप रथ पर यह आरूढ़ होता है। इसका शरीर इसके वश में होता है, यह स्वस्थ होता है। ६. **दविद्युतत्**=ज्ञान की दीप्ति से यह अत्यन्त देदीप्यमान होता है। ७. और **ये**=जो काम, क्रोध, लोभ आदि पाप-वृत्तियाँ **पृतन्यवः**=इसके साथ युद्ध की इच्छावाली होती हैं, अर्थात् इसपर आक्रमण करती हैं, उन्हें यह **अधस्पदं कृणुताम्**=पाँवों तले कुचल डाले।

भावार्थ—अग्नि 'ज्ञानी बनता है, औरों के भरण का भी ध्यान करता है' सत्कर्मों का रक्षक व समझदार बनता है। यह शरीर को पूर्ण स्वस्थ करके ज्ञान-दीप्त होता है और वासनाओं को कुचल डालता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वीरतमः

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन्।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यऽउप प्र याहि दिव्यानि धाम॥५२॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार शत्रुओं को पाँव तले कुचल डालनेवाला **अयम् अग्निः**=यह शत्रुदाहक प्रगतिशील व्यक्ति **वीरतमः**=सर्वोत्तम वीर है। जिसने बाह्य शत्रुओं को जीता वह 'वीर' है। जिसने अपनों को जीता तथा भौतिक कष्टों को जीता वह 'वीरतर' है। कामादि अन्तःशत्रुओं का विजेता यह 'वीरतम' है। २. **वयोधाः**=वस्तुतः जीवन का धारण तो इसी ने किया है, वासनाओं से ऊपर उठा हुआ जीवन ही तो जीवन है। वासनामय जीवन भी कोई जीवन है? ३. यह सदा **सहस्रियः**=आमोद के साथ रहनेवाला है, सदा प्रसन्न रहता है (स+हस)। हास्य सदा इसके चेहरे पर स्थित होता है (always smiling)। ४. **द्योतताम्**=यह ज्ञान की ज्योति से चमकता है। ५. **अप्रयुच्छन्**=यह अपने कर्त्तव्यों में (अप्रमाद्यन्) कभी प्रमाद नहीं करता। ६. **सरिरस्य मध्ये**='इमे वै लोकाः सरिरम्'=पञ्चकोशों में अवस्थित हुआ-हुआ **विभ्राजमानः**=उस-उस कोश की शक्ति से चमकता है। ७. इस प्रकार के जीवनवाला अग्नि तू **दिव्यानि धाम**=(धामानि) दिव्य धामों को **उप प्रयाहि**=प्राप्त हो। (उप प्रयाहि स्वर्गलोकम्—श० ८।३।२।१) इस प्रकार के जीवनवाला बनकर ही तू स्वर्ग को, सुखमयलोक को प्राप्त होता है।

भावार्थ—कामादि शत्रु-विजेता अग्नि वीरतम है, उत्कृष्ट जीवनवाला है, प्रसन्न, ज्ञानी, अप्रमत्त है। इन कोशों में यह दीप्त जीवनवाला है और तभी स्वर्ग को प्राप्त करता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

तन्तु-सन्तान Rejuvenation

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयातागने पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वाताꣳसीत् त्वयि तन्तुमेतम्॥५३॥

१. **सम्प्रच्यवध्वम्**=(सं गच्छध्वम्) तुम सब मिलकर चलो और मिलकर चलने के द्वारा २. **उप सम्प्रयात**=मेरे समीप आओ, मेरी उपासना करो। जो घर में मिलकर नहीं चल सकते, उन्हें प्रभु की उपासना का भी क्या अधिकार है? ३. हे **अग्ने**=दोषों का दहन करनेवाले विद्वन्! तुम सब **देवयानान् पथः कृणुध्वम्**=देवयान मार्गों को करो, अर्थात् देवयान मार्ग से चलनेवाले बनो। देवताओं के मार्ग को अपनाओ। ४. **पितरा युवाना कृण्वाना**=माता-पिता को अपने उत्तम कर्मों से फिर से युवा करने के हेतु वे अग्नि में यज्ञ करते हैं। **पुनः**=फिर-फिर **पितरा**=(वाक् चैव मनश्च पितरा युवाना—श० ८।६।३।२२) पालक होने से 'पितृ' शब्दवाच्य वाणी और मन को **युवाना**=(तरुणौ अयातयामौ अथवा अन्योन्यसंगतौ—म०) तरुण—अक्षीणशक्ति तथा परस्पर सम्बद्ध **कृण्वाना**=करते हुए। ५. हे अग्ने! **त्वयि**=तुझमें **एतं तन्तुम्**=इस यज्ञ को **अन्वातांसीत्**=(अतानिषुः अनुक्रमेण विस्तारितवन्तः—म०) विस्तृत करते हैं, अर्थात् वाणी और मन के द्वारा यज्ञों को सिद्ध करते हैं। यज्ञों में लगे हुए वाणी और मन संयत रहते हैं—क्षीणशक्ति नहीं होते।

भावार्थ—हम मिलकर चलें, प्रभु के उपासक बनें, देवताओं के मार्ग पर चलें। वाणी व मन को संस्कृत करके यज्ञों का विस्तार करें। यज्ञों में लगे हुए वाणी और मन परिष्कृत बने रहते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इष्टापूर्त

उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥५४॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति यज्ञ का विस्तार करने पर हुई थी। उसी यज्ञ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! तू **उद्बुध्यस्व**=उद्बुद्ध हो। उद्बुद्ध अग्नि ही तो हमारे घृत व सामग्री आदि पदार्थों को देवों में ले-जाएगी। २. **त्वं प्रतिजागृहि**=तू प्रत्येक घर में जागरित हो। वैदिक राष्ट्र में कोई घर ऐसा नहीं होता जहाँ अग्निहोत्र न होता हो। अग्निकुण्ड में भी दाएँ-बाएँ, पूर्व-पश्चिम व मध्य सर्वत्र अग्नि प्रज्वलित हो जाए और सामग्री को छिन्न-भिन्न करके सर्वत्र विस्तृत करने के लिए उद्यत हो जाए। ३. हे अग्ने! **त्वम्**=तू **अयं च**=और यह यजमान दोनों मिलकर **इष्टापूर्ते**=इष्ट और आपूर्त को **सृजेथाम्**=सम्यक्तया करनेवाले होओ। यह यजमान 'इष्ट को करे', अर्थात् तेरे साथ घृत व हव्य का सम्पर्क करे। (यज्=सङ्गतीकरण) और तू उस घृत व हव्य को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके 'आ-पूर्त'=चारों ओर सारे वायुमण्डल में भर दे। ४. **अस्मिन् सधस्थे**=इस यज्ञस्थल में जोकि घर के सब व्यक्तियों का सधस्थ है, मिलकर बैठने का स्थान है तथा ५. **अध्युत्तरस्मिन्**=जोकि घर में सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वेद में **'हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां**

सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले' इन शब्दों में घर में सर्वप्रथम स्थान **'हविर्धान'**=अग्निहोत्र के कमरे को ही दिया है। ६. इस सर्वोत्कृष्ट स्थान में **विश्वेदेवाः**=घर के सब छोटे-बड़े व मध्यम आयुष्यवाले देव-दिव्य प्रवृत्तियोंवाले व्यक्ति **यजमानः च**=और घर का सबसे बड़ा यज्ञशील पुरुष भी **सीदत**=मिलकर बैठें और प्रेम से प्रभु-प्रार्थना करते हुए इस यज्ञ को सिद्ध करें।

भावार्थ—घर-घर में अग्निहोत्र हो। अग्नि में डाले हुए घृतादि पदार्थों को अग्नि सारे आकाश में भर देता है। (pours=पूरयति)। इस आपूर्ति के द्वारा यह यज्ञाग्नि वायुमण्डल को तो शुद्ध करता ही है साथ ही ये घृतादि पदार्थ सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर वृष्टिजल के बिन्दुओं का केन्द्र बनकर वृष्टि में भी सहायक होते हैं। यह बरसकर भूमि में होनेवाले अन्न-कणों का अंश बनते हैं और इस प्रकार फिर से हमें प्राप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

देवेषु गन्तवे सहस्रं सर्ववेदसम्

येन॒ वह॑सि स॒हस्रं॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्देवे॑षु गन्त॑वे ॥५५॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! तू **येन**=अपने जिस सामर्थ्य से हमारे दिये हुए घृतादि पदार्थों को **सहस्रं वहसि** =सहस्रगुणा करके प्राप्त कराता है और **येन**=अपने जिस सामर्थ्य से तू **सर्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों को **वहसि**=प्राप्त कराता है। स्वास्थ्य व सौमनस्य के साथ उत्तम अन्नादि को प्राप्त कराता हुआ यह अग्नि हमें सब धनों को प्राप्त करने के योग्य करता है। २. **तेन**=अपने उसी 'सहस्र वहन' व 'सर्ववेदस् वहन' के सामर्थ्य से **नः इमं यज्ञम्**=हमारे इस यज्ञ को—यज्ञ में डाले गये पदार्थों को **स्वः**=आदित्य तक **नय**=ले-जा, जिससे **देवेषु गन्तवे**=ये पदार्थ देवों में जानेवाले हों, वायु आदि सारे देवों को प्राप्त हों। ये वायु आदि का मानो भोजन ही बन जाए। ३. मनु के अनुसार—**'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'**=अग्नि में विधिवत् डाली हुई आहुति सूर्य तक पहुँचती है और इस प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के सब देवों में पहुँच जाती है। देव मानो इस अग्निरूप मुख से इन घृतादि पदार्थों को खानेवाले बनते हैं। ४. पिछले मन्त्रभाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि हे अग्ने! क्योंकि तू दत्तहवि को सहस्रगुणा करके इन सम्पूर्ण धनों को ही हमें प्राप्त करानेवाला है **तेन**=अतः **नः देवेषु**=हमारे देववृत्तिवाले—समझदार पुरुषों में **इमं यज्ञं नय**=इस यज्ञ को प्राप्त करा, वे सब इस यज्ञ को करनेवाले हों, जिससे **स्वः गन्तवे**=सुखमय स्थिति में पहुँच सकें। 'स्वर्गकामो यजेत'=यज्ञ से स्वर्ग मिलता है, अतः इन यज्ञों से हमारे घर स्वर्ग बन जाएँ। ५. **'येन वहसि सहस्रम्'** इस मन्त्रभाग के भाव से ही कालिदास ने 'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' ये शब्द लिखे हैं कि सूर्य जल को लेता है पर सहस्रगुणित-सा करके उसे फिर इस भूमि पर बरसा देता है। इसी प्रकार यह यज्ञाग्नि भी हमारे घृतादि पदार्थों को लेती है और सहस्रगुणित करके हमें लौटा देती है। सारे वायुमण्डल को शुद्ध करके और हमें स्वास्थ्य व सौमनस्य देकर यह सम्पूर्ण धनों का कारण बनती है।

भावार्थ—यज्ञाग्नि में डाले गये पदार्थ सहस्रगुणित होकर हमें फिर प्राप्त हो जाते हैं। ये हमारी सुखमय स्थिति का कारण हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

रयि-वर्धन

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽआ रोहाथा नो वर्धया रयिम्॥५६॥

१. पिछले मन्त्र की ही भावना को कि 'हममें यज्ञों का प्रणयन हो', घर-घर में यज्ञ हों, प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि हे **अग्ने! अयं ते योनिः**=यह घर तो तेरा ही है। यह हमारा घर न होकर तेरा ही है। २. तू यहाँ **'ऋत्वियः'**=(ऋतौ-ऋतौ प्राप्तः) समय-समय पर प्राप्त होता है। तू यहाँ प्रातः-सायं सदा अग्निकुण्ड में उद्बुद्ध होता है। **यतः**=क्योंकि **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **अरोचथाः**=(रोचयसि) हम सबके जीवनों को दीप्त करनेवाला होता है। जिस घर में भी तेरा प्रणयन होता है, वहाँ तू सब गृहवासियों को सौमनस्य देनेवाला होता है। उनके जीवन को तू रोचक व आनन्दयुक्त कर देता है। ३. **तं जानन्**=अपने उस घर को जानता हुआ, अर्थात् घर की रक्षा को न भूलता हुआ तू **आरोह**=(पुनरुद्धरणाय प्रविश-म०) सबके उद्धार के लिए यहाँ प्रवेश कर। इस घर में तेरा स्थान सर्वोपरि हो। तू ही तो सब घरवालों का रक्षक है। ४. **अथ**=और अब हमें स्वस्थ व सुमनस् बनाकर **नः**=हमारे **रयिम्**=धन को **वर्धय**=बढ़ा। अग्नि हमारी सम्पत्ति को कम न करके बढ़ाता ही है। यह समझना कि 'पचास ग्राम घी जल गया' ठीक नहीं। वह घृत सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर सर्वत्र फैल गया है, वह वायु में रोगकृमियों का नाशक बनता है, यही अग्नि का 'रक्षो-दहन' है। अग्नि हमें स्वस्थ बनाता है। ठीक समय पर वृष्टि आदि का कारण बनकर प्रचुर मात्रा में पौष्टिक अन्नों के उत्पादन का कारण बनता है। इस प्रकार हमारे धनों की वृद्धि का हेतु होता है। दवाइयों के व्यय को भी समाप्त करके हमारे धनों का रक्षक बनता है।

भावार्थ—हमारा घर यज्ञाग्नि का ही घर हो जाए—'यज्ञभवन' बन जाए। यह अग्नि हमारे स्वास्थ्य आदि का रक्षक और हमारे धनों का वर्धन करनेवाला हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—शिशिरर्तुः। छन्दः—स्वराडुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

तप+तपस्य=शैशिरौ ऋतू

तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। शैशिरावृतूऽअभिकल्पमानाऽ इन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥५७॥

१. पति-पत्नी को चाहिए कि वे **तपः च**=(तप दीप्तौ) ज्ञान से दीप्त होने का प्रयत्न करें। जैसे सूर्यः तपति=सूर्य अपने प्रकाश से चमकता है, इसी प्रकार ये ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले हों। २. **तपस्यः च** (तपसि साधुः)=उत्तम तपस्यावाले हों। उत्तम तपस्या वही है जो शरीर को पीड़ित न करके की गई है। 'ब्रह्मचर्य' शारीरिक तप है तो 'मधुर भाषण' वाणी का तथा 'मनःप्रसाद' मन का। इन तपों में वे अग्रणी बनने का प्रयत्न करें। ३. **शैशिरौ** (शश प्लुतगतौ)=ये दोनों द्रुत गतिवाले हों। इनका जीवन क्रियाशील व स्फूर्तिमय हो। **ऋतू**=ये बड़ी नियमित गतिवाले हों। ऋतुओं के आने की भाँति ये अपने सब कार्यों को

समय पर करनेवाले हों। ४. **अग्नेः**=उस प्रभु का **अन्तः श्लेषः असि**=हृदयदेश में आलिङ्गन करनेवाला तू बनता है। ५. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों ही **कल्पेताम्**= सामर्थ्यवाले हों। ६. इसके लिए **आपः**=जल तथा **ओषधयः**=ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=हमें शक्तिशाली बनाएँ। जलों व ओषधियों का सेवन हमारे मस्तिष्क व शरीर को उत्तम व सशक्त बनाता है। ७. **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः**=मेरी ज्येष्ठता के लिए समानरूप से व्रत धारण किये हुए **पृथक्**=अलग-अलग, क्रमशः पाँच, आठ व चौबीस वर्ष तक **कल्पन्ताम्**=मेरे जीवन को सामर्थ्य-सम्पन्न करने में लगे रहें। ८. मेरे 'माता-पिता व आचार्य' ही क्या, **ये अग्नयः**=जो भी अग्नियाँ **इमे**=इन **द्यावापृथिवी अन्तरा**= द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में है, वे सब **समनसः**=समान मनवाली हों। सबका एक ही ध्येय हो कि आनेवाली पीढ़ी के जीवन को ज्येष्ठता तक पहुँचाना है। ९. इस प्रकार इन कर्मों से जिनके जीवन का निर्माण किया गया है वे **शैशिरौ ऋतू**=द्रुत गतिवाले तथा बड़ी नियमित गतिवाले होते हैं। १०. **अभिकल्पमानाः**=ये शारीरिक व बौद्धिक दोनों ही सामर्थ्यों का सम्पादन करते हैं। **इन्द्रम् इव**=इन्द्र के समान बनते हैं, इन्द्रियों के अधिष्ठाता होते हैं। तभी तो **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=इन्हें प्राप्त होते हैं। ११. इन पति-पत्नी से कहते हैं कि **तया देवतया** =उस देवाधिदेव परमात्मा के साथ, अर्थात् उसकी उपासना करते हुए **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाले बनकर, अर्थात् शक्ति से परिपूर्ण होकर **ध्रुवे सीदतम्**=इस घर में ध्रुव होकर रहो।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञान से चमकें, उत्तम तपस्वी हों। तीव्र गतिवाले, अर्थात् सदा क्रियाशील और बड़ी नियमित गतिवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विदुषी। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

दिवः पृष्ठे ज्योतिष्मती

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। सूर्यस्ते ऽधिपतिस्तया देवतया ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५८॥

१. हे पत्नि! **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित प्रभु **त्वा**=तुझे **दिवः पृष्ठे**=ज्ञान के पृष्ठ पर **सादयतु**=बिठाए, अर्थात् प्रभु की कृपा से तू ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाली हो। **ज्योतिष्मतीम्**=प्रभु तेरे जीवन को ज्योतिर्मय करें। २. **विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय**=घर में तू सबके प्राण, अपान और व्यान को ठीक रखनेवाली हो। भोजनादि की उत्तम व्यवस्था से सबको नीरोग रखना पत्नी का ही कर्त्तव्य है। ३. **विश्वं ज्योतिः यच्छ**=तू सबको ज्योति प्राप्त करानेवाली हो। स्वयं ज्योतिर्मय बनकर यह औरों को भी ज्ञान की ज्योति देनेवाली हो। प्रारम्भ में माता ने ही सब सन्तानों को ज्योति प्राप्त करानी है। ४. **सूर्यः ते अधिपतिः**=(सरति इति सूर्यः) निरन्तर क्रियाशील व्यक्ति ही तेरा उत्कृष्ट पति हो, अर्थात् पति का जीवन सतत क्रियाशील हो। ऐसा ही व्यक्ति गृहस्थ-सञ्चालन के लिए सम्पत्ति को कमानेवाला होता है तथा अपवित्रता को भी उत्पन्न नहीं होने देता। ५. **तया देवतया**=इस देवतुल्य अपने उत्कृष्ट (अधि-पति) पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाली होती हुई तू-संयम के द्वारा शक्तिशालिनी बनी हुई तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर **सीद**=इस घर में निषण्ण हो। घर में तेरी स्थिति स्थिर हो।

भावार्थ—पत्नी का जीवन ज्योतिर्मय हो। वह सबके स्वास्थ्य का ध्यान करे। सन्तानों

को उत्तम ज्ञान देनेवाली हो। पति सूर्य की भाँति सतत क्रियाशील होकर घर का उत्कृष्ट रक्षण करनेवाला बने।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इन्द्र, अग्नि व बृहस्पति

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्॥५९॥

१. पत्नी के लिए कहते हैं कि तू **लोकं पृण**=प्रकाश को (लोकं=आलोकं) **पृण** (पिपूर्धि—म०) भरनेवाली हो और इस प्रकार सबको (लोकं) सुखी कर (पृण)। २. **छिद्रं पृण**=घर के दोषों को फिर से ठीक कर देनेवाली हो, छिद्र को भर दे, दोषों को दूर कर दे। ३. **अथ उ**=और अब प्रकाश को भरने व दोषों को दूर करने के साथ **त्वम् ध्रुवा सीद**=तू ध्रुव होकर यहाँ घर में रह। ४. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि तथा **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी **त्वा**=तुझे **अस्मिन् योनौ**=इस घर में **असीषदन्**=स्थापित करें—बिठाएँ, अर्थात् तेरे पति की तीन विशेषताएँ हों। (क) सर्वप्रथम वह 'इन्द्र' हो, जितेन्द्रिय हो। पति का असंयत जीवन पत्नी के जीवन पर एक ऐसा अशुभ प्रभाव उत्पन्न करेगा कि वह घर में ध्रुव होकर कभी न रह सकेगी। (ख) पति 'अग्नि' हो, उसके अन्दर गरमी व उत्साह हो। ऐसा ही पति घर की उन्नति का कारण बन सकता है और वही पत्नी के जीवन में उत्साह उत्पन्न करके उसे घर की उन्नति के कार्यों में व्यापृत रखनेवाला होता है। (ग) पति 'बृहस्पति हो, यह ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति हो। ऐसा ही पति पत्नी से उचित आदर पा सकता है और पत्नी के हृदय में अपने लिए स्थान बना सकता है। इस पति के साथ ही पत्नी अपने सम्बन्ध का ध्यान करती हुई अपने को गौरवान्वित अनुभव करती है। असंयमी, उत्साहशून्य, मूर्ख पति पत्नी की स्थिरता का कारण नहीं बन सकता। 'इन्द्र' बनकर यह शरीर को सुन्दर बनाता है, 'अग्नि' बनकर मन को शक्तिशाली बनाता है, बृहस्पति बनकर यह मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करता है। यही परमेष्ठी बनना है।

भावार्थ—पत्नी घर में अपने सौन्दर्य व ज्ञान से प्रकाश भर दे, दोषों को दूर करनेवाली हो, स्थिर वृत्तिवाली हो। पति 'जितेन्द्रिय, उत्साही तथा उत्कृष्ट ज्ञान-सम्पन्न' हो। ऐसा ही पति 'परमेष्ठी' कहला सकता है।

ऋषिः—प्रियमेधा। **देवता**—आपः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूद-दोहस

ताऽअस्य सूददोहसः सोमꣳश्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः॥६०॥

१. उल्लिखित मन्त्र में वर्णित प्रकार के **ताः**=वे व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु के होते हैं, दैवी वृत्तिवाले बनकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहे होते हैं। २. जो **सूददोहसः**=(षूद क्षरणे throw away, दुह प्रपूरणे) दोषों को दूर फेंकनेवाले तथा गुणों का अपने में पूरण करनेवाले होते हैं। ३. इसी उद्देश्य से ये **सोमं श्रीणन्ति**=अपने में वीर्यशक्ति का परिपाक करते हैं। इस शक्ति के परिपाक के लिए ही ये २४, ४४ व ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ४. और **पृश्नयः**=ज्ञान की दीप्तियों का अपने से संस्पर्श करनेवाले होते हैं। (संस्पृष्टा भासाम्—नि०) ५. **देवानां जन्मन्**=ये देवों के जन्म में स्थित होते हैं, अर्थात् अपने

जीवन में अधिकाधिक दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ६. **त्रिषु विशः**=कर्म-उपासना व ज्ञान में प्रवेशवाले होते हैं अथवा धर्मार्थकाम तीनों का समरूप से सेवन करनेवाले होते हैं। ७. **दिवः आरोचने**=ज्ञान की दीप्ति में पूर्णरूप से स्थित होते हैं। अपने जीवन को ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं। इनके व्यवहार में कहीं भी मूर्खता नहीं टपकती। इसी से इनका नाम ही 'प्रियमेधा'=(जिनको बुद्धि प्रिय है) हो जाता है।

भावार्थ—जो प्रभु के उपासक होते हैं वे १. अवगुणों को दूर करके गुणों का ग्रहण करते हैं। २. अपनी वीर्यशक्ति को संयमी जीवन से परिपक्व बनाते हैं। ३. ज्ञान-रश्मियों से सूर्य की भाँति चमकनेवाले बनते हैं। ४. दिव्य गुणों को धारण करके धर्मार्थकाम का समान रूप से सेवन करते हैं। ५. सदा ज्ञान के प्रकाश में रहते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इन्द्र-वर्धन

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥६१॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रियमेधा' ने अपने ज्ञान का वर्धन किया। उस ज्ञान-वर्धन के प्रसङ्ग में उसे अनुभव हुआ कि ये **विश्वाः गिरः**=सब वेदवाणियाँ **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु का ही **अवीवृधन्** =वर्धन करती हैं। अन्ततोगत्वा सब वाणियाँ उस प्रभु में ही स्थित होती हैं। इस ब्रह्माण्ड के पदार्थों के वर्णन में भी उस कर्त्ता की रचना की कुशलता का उल्लेख होता है। २. उस प्रभु का ये वाणियाँ वर्णन करती हैं जो **समुद्रव्यचसम्**=(स+मुद्र) आनन्दमय तथा विस्तारवाले हैं। वस्तुतः विस्तार में ही आनन्द है—'यो वै भूमा तत्सुखम्'=विशालता ही सुख है। संकुचितता में निरानन्दता है। ३. उस प्रभु का वर्णन करती हैं जो **रथीतमं रथीनाम्**=रथवाहकों में सर्वोत्तम रथवाहक हैं। हम भी अपने शरीररूप रथ का वाहक उस प्रभु को बनाएँगे तो यात्रा को अवश्य निर्विघ्नरूप से पूरा कर पाएँगे। ४. वे प्रभु **वाजानाम्**=सब शक्तियों के **पतिम्**=पति हैं—सब शक्तियों के स्वामी हैं। उनके सम्पर्क में आकर मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' भी शक्तियों का पति बनता है। ५. वे प्रभु **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक हैं। सज्जन बनकर ही हम प्रभु की रक्षा के पात्र बन सकते हैं।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा' प्रभु का स्मरण 'इन्द्र, समुद्रव्यचस्, रथीतम, वाजपति व सत्पति' इन शब्दों से करता हुआ चाहता है कि वह भी शक्तिमान् व ऐश्वर्यशाली बने, आनन्दमय व उदार हो, अपने शरीररूप रथ का सारथि उस प्रभु को बना पाये, शक्तियों का पति बनकर अपने में सत्य को प्रतिष्ठित करे।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

संवरण से ऊपर उठना

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात्।
आदस्य वातोऽअनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति॥६२॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि सब वाणियाँ उस प्रभु की महिमा का वर्धन करती हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि मन्त्र का ऋषि **वसिष्ठ**='अपने जीवन को अत्यन्त उत्तम बनानेवाला' **प्रोथत्**=(प्रोथतिः शब्दार्थः—उ०) शब्दायते=वाणियों का उच्चारण करता है। वाणियों

का उच्चारण करता हुआ उनसे प्रेरणा प्राप्त करता है और उनके अनुसार अपना आचरण बनाता हुआ अपने जीवन को उच्च बनाता है। २. **अश्वः न**=यह अश्व के समान होता है। जैसे **अश्व**='अश्नुते अध्वानम्'=मार्ग का व्यापन करता है, इसी प्रकार यह भी अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है, कभी आलस्य नहीं करता। ३. आलस्य न करने से ही यह **यवसे**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) अपने जीवन में गुणों का मिश्रण व दोषों का अमिश्रण करने में समर्थ होता है। ४. **अविष्यन्**=वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता हुआ यह **यदा**=जब **महः**=उस प्रभु की पूजा करनेवाला होता है (मह पूजायाम्) तब यह **संवरणात्**= ज्ञानादि को आवृत करनेवाली कामादि वासनाओं से **व्यस्थात्**= अलग होकर ठहरता है। वासनाओं को परे फेंककर उठ खड़ा होता है। ये वासनाएँ संवरण व वृत्र हैं, यह ज्ञान पर पर्दा डाले रहती हैं। प्रभु-पूजन आरम्भ होते ही ये भाग खड़ी होती हैं। महादेव के सामने कामदेव भस्म हो जाते हैं। ५. **आत्**=अब **वातः अस्य अनुवाति**=वायु इसके अनुकूल बहती है, अर्थात् सारा वातावरण इसके लिए उत्तम होता है। अथवा **'वातः**=प्राणः (वायुः प्राणो भूत्वा) वात का अभिप्राय प्राण से है। अब जब प्राण भी उसके अनुकूल होता है, अर्थात् प्राण-साधना करके यह प्राणों को भी अनुकूल कर लेता है 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' प्राणापान की गति को सम कर लेता है तो **शोचिः**=यह दीप्त हो उठता है, इसका जीवन चमक जाता है। ६. हे वसिष्ठ! **अध स्म**=अब **ते व्रजनम्**=तेरी गति-चाल-ढाल **कृष्णम्**= (कर्षकम्-द०) बड़ी आकर्षक **अस्ति**=होती है। तेरा चरित्र बड़ा सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ-वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए जब हम उनके अनुसार आचरण करते हैं तब वासनाओं से बच जाते हैं। उपासक बनकर वृत्र को परे फेंक हम उठ खड़े होते हैं। प्राण-साधना करके अपने चरित्र को ऊँचा कर पाते हैं।

ऋषिः-वसिष्ठः। **देवता**-विदुषी। **छन्दः**-विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

आयु-अवन् व समुद्र

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायाꣳसमुद्रस्य हृदये।
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम्॥६३॥

१. पत्नी से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **आयोः**=(एति) गतिशील पुरुष के **सदने**=घर में **सादयामि**=स्थापित करते हैं। पति की प्रथम विशेषता यही है कि वह क्रियाशील हो, आलसी नहीं। २. **अवतः**=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले पुरुष की **छायायाम्**=आश्रय में तुझे स्थापित करते हैं। वासनामय वृत्तिवाला पुरुष एकपत्नीव्रत न होकर गृहस्थ को नरक-सा बना देता है। विलास के कारण वह अपनी शक्ति को क्षीण करनेवाला होता है और पत्नी को भी रोगों का घर बना देता है। ३. **समुद्रस्य**=सदा आनन्दमय स्वभाववाले (स+मुद) पुरुष के **हृदये**=हृदय में तुझे स्थापित करते हैं। खिझनेवाला पति घर को सुखी नहीं बना पाता। आर्थिक दृष्टि से भी वह घर को उन्नत बनाने में समर्थ नहीं होता। संसार में आगे बढ़ने के लिए प्रसन्न मनोवृत्ति नितान्त आवश्यक है। प्रसन्न मनोवृत्तिवाला ही पत्नी से भी उचित प्रेम कर पाता है। ४. कैसी तुझको? जो तू **रश्मीवतीम्**=लगामवाली है, कर्मेन्द्रियों को मनरूप लगाम से काबू करके ही विषयों में विचरनेवाली है तथा **भास्वतीम्**= ज्ञानेन्द्रियों के उचित व्यापार से ज्ञान की खूब दीप्तिवाली बनी है। ५. **या**=जो तू **द्याम्**= अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **आभासि**=ज्ञान से खूब दीप्त कर लेती है और जो **पृथिवीम्**=

शरीररूप पृथिवीलोक को पूर्ण स्वास्थ्य से **आभासि**=तेजस्वी बनानेवाली है तथा **उरु अन्तरिक्षम्**=अपने विशाल हृदयान्तरिक्ष को **आभासि**=नैर्मल्य से चमका देती है।

भावार्थ—पति को गतिशील, वासनाओं से अपनी रक्षा करनेवाला व प्रसन्न स्वभाववाला होना है तथा पत्नी ने वश्येन्द्रिय व प्रकाशमय जीवनवाला बनकर मस्तिष्क, शरीर व हृदय तीनों को ही दीप्त करना है।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—परमात्मा। **छन्दः**—आकृतिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्यचस्वती-प्रथस्वती

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं दिवं यच्छ दिवं दृꣳह दिवं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। सूर्यस्त्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥६४॥

१. **परमेष्ठी**=परमस्थान में स्थित प्रभु **त्वा**=तुझे **दिवः पृष्ठे सादयतु**=(दिव् कान्ति) कमनीय गृहस्थ-व्यवहार के आधार में स्थापित करे। सारे गृहस्थ-व्यवहार को सुन्दर प्रकार से चलाती हुई तू सचमुच उत्तम गृहिणी बन। २. **व्यचस्वतीम्**=तू प्रशस्त विद्याओं का व्यापन=अध्ययन करनेवाली है, इसीलिए आयुर्वेदादि शास्त्रों को जानने से तू उचित आहार के प्रापण से घर में सभी को नीरोग रखने का कारण बनती है। ३. **प्रथस्वतीम्**=(बहु प्रथः प्रख्यातिः प्रशंसा विद्यते यस्यां ताम्) तू व्यवहार की कमनीयता व प्रशस्त विद्याध्ययन के कारण उत्तम प्रशंसावाली है। सब समाज में तेरी कीर्ति है। ४. **दिवं यच्छ**=तू अपने सन्तानों को ज्ञान का प्रकाश देनेवाली बन। **दिवं दृंह**=अपने ज्ञान को दृढ़ कर। **दिवं मा हिंसीः**=ज्ञान को नष्ट मत होने दे। ५. **विश्वस्मै प्राणाय**=समग्र जीवन के सुख के लिए **अपानाय**=दुःख निवृत्ति के लिए **व्यानाय**=नाना विद्याओं की व्याप्ति के लिए **उदानाय**=उत्तम बल के लिए **प्रतिष्ठायै**=सर्वत्र सत्कार की प्राप्ति के लिए और **चरित्राय**=सत्कर्मों के अनुष्ठान के लिए प्रभु ने तुझे इस गृह में स्थापित किया है। तूने गृहस्थ में रहते हुए सबकी प्राणापानव्यान व उदानशक्ति की वृद्धि का कारण बनना है। ६. **सूर्यः**=सूर्य के समान निरन्तर गतिशील जो तेरे पति हैं वे **त्वा अभिपातु**=तेरी रक्षा करें। किस प्रकार? सबसे प्रथम तो (क) **मह्या**=एक सुन्दर गौ के द्वारा। घर में सबके स्वास्थ्य व सात्त्विक मनोवृत्ति को पैदा करने में गोदुग्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है। (ख) **स्वस्त्या**=स्वस्ति के द्वारा। कभी यह कहने का अवसर न आये कि 'अब तो इस घर की स्थिति ठीक नहीं'। घर सदा धन-धान्य से पूर्ण हो। (ग) **शन्तमेन छर्दिषा**=अधिक-से-अधिक शान्ति को देनेवाले घर से। घर का निर्माण इस प्रकार हो कि वहाँ सर्दियों में धूप का खूब प्रवेश हो और गर्मियों में धूप कम आये। घर में रहनेवालों के स्वास्थ्य पर किसी प्रकार का अवांच्छनीय (रद्दी) प्रभाव न हो। ७. इस घर में **तया देवतया**=उस प्रभु के सम्पर्क से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले होकर तुम **ध्रुवे सीदतम्**=ध्रुव होकर निवास करो।

भावार्थ—पत्नी प्रशस्त विद्याओं का अध्ययन-मनन करनेवाली तथा उत्तम प्रशंसावाली व विशाल हृदयवाली हो। वह सबके प्राणापान आदि का वर्धन करनेवाली हो। पति सूर्य के समान सदा गतिशील होकर घर का रक्षण करे। घर में गौ हो, समृद्धि हो तथा घर स्वयं अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला हो। इस घर में पति-पत्नी प्रभु का उपासन करते हुए

अपनी शक्ति को अक्षीण रखते हुए ध्रुव होकर निवास करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

साहस्र=सहस्रभक्त

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥६५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर 'तया देवतया'='उस देवता के साथ, उस देवाधिदेव प्रभु के सम्पर्क में' ये शब्द थे। उन्हीं का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि तू **सहस्रस्य**= सदा आनन्दस्वरूप (स+हस्) उस परमात्मा का **प्रमा असि**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। २. उसका ज्ञान प्राप्त करके **सहस्रस्य प्रतिमा असि**=तू उसकी प्रतिमा बना है। उस प्रभु का ही छोटा रूप बनने का तू प्रयत्न करता है। ३. उसका रूप बनने के लिए ही तू **सहस्रस्य**= उस सदा आनन्दमय परमात्मा का **उन्मा असि**=उत्तोलन करता है। उसके गुणों का चिन्तन करता हुआ उन गुणों को अपने में लेने का प्रयत्न करता है। ४. और वस्तुतः इस प्रकार होने से ही तू **साहस्रः**=उस सहस्र प्रभु का सच्चा भक्त **असि**=बनता है। भक्त तो वही है जो भक्तिभाजन के गुणों का उत्तोलन करके उन्हें अपने में धारण करे। ५. इस सहस्र के भक्त बने हुए **त्वा सहस्राय**=तुझे मैं उस सहस्र प्रभु को पाने के लिए नियुक्त करता हूँ, अर्थात् प्रभु-भक्त बनकर तू उस प्रभु को पानेवाला हो जाता है।

भावार्थ—हम आनन्दमय प्रभु का ज्ञान प्राप्त करें और प्रभु के अनुरूप बनने के लिए यत्नशील हों, प्रभु के गुणों का उत्तोलन करें और सच्चे प्रभु-भक्त बनकर प्रभु को पाने के पात्र बनें।

यहाँ पञ्चदशाध्याय की समाप्ति पर 'साहस्र' बनने का उल्लेख है। 'साहस्र' आनन्दमय प्रभु का भक्त है। यह साहस्र १६वें अध्याय में प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि—

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥